5.2

महाकवि माघ कृत

शिशुपाल-वधम्

प्रथम

विस्तृत टीका और आलोचना सहित

महाकवि श्री माघरचितं

शिशुपाल-वधम्

(प्रथम सर्ग)

सर्वङ्कषा टीका, चन्द्रप्रभा विवृति, हिन्दी-अनुवाद-सहित

टीकाकार

आचार्य पं० रामप्रिय देव भट्ट, शास्त्री,

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, प्रयाग महिला विद्यापीठ कालेज '

प्रयाग

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

तृतीय संस्करण १९६६ [मूल्य १·५० रुपये

प्रकाशक :
रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद-२

मुद्रक :
न्यू एरा प्रेस,
इलाहाबाद

प्राक्कथन

आचार, दर्शन तथा साहित्य किसी जाति की सभ्यता के माप-दण्ड हैं। इनमें आचार का केवल वर्तमान रूप ही दृष्टिगोचर हो सकता है। साथ ही दर्शन भी सर्व-साधारण के बुद्धि-वैभव का विषय नहीं होता। अतः साहित्य ही किसी जाति की प्रवृत्तियों अथवा प्रगतियों के अध्ययन का प्रमुख साधन माना गया है। किसी जाति का साहित्य उसकी राष्ट्रीयता का अमर प्रतीक है। किसी जाति के साहित्य में उसके अन्तर और बाह्य अध्ययन के समग्र साधन प्रस्तुत होते हैं। किन्तु सभी साहित्य-शिल्पी एक से नहीं होते। जो युग की नाड़ी पहिचानते हों, जिनका अन्तदर्शन महान्, अध्ययन व्यापक, पर्यवेक्षण सूक्ष्म तथा दृष्टिकोण विश्वजनीन हो, जो सर्वांगीण आदर्श रखते हों, साथ ही उसके प्रस्तुतीकरण के लिए न केवल सांस्कृतिक ही अपितु स्वाभाविक वातावरण की सृष्टि भी कर सकते हों, ऐसे साहित्य-शिल्पी प्रायः सभी देशों में कम होते हैं। सौभाग्य की बात है कि भारत-वर्ष इस दिशा में सदैव भाग्यशाली रहा है। यहाँ राजा भी कवि हो चुके हैं। साहित्य का मुख्य कार्य है जाति के मानसिक तथा बौद्धिक स्वास्थ्य का आपेक्षिक संशोधन तथा संवर्धन। ऐसे साहित्य के सृजन के लिए सांस्कृतिक तथा यथासंभव सामाजिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। प्रायः इस प्रकार के दृष्टिकोण के लिए साहित्य-स्रष्टा के जीवन की आधार-भूमि समृद्ध अथ च संस्कृत होनी चाहिये। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय कवियों के जीवन की आधार-भूमि प्रायः समृद्ध और संस्कृत अवश्य रही है। उनकी स्वानुभूति से अन्तर्जगत् तथा उनके अध्ययन से बाह्य जगत् का कोई कोना अछूता नहीं है। उनके तर्क ने विषय का यदि सर्वाङ्गीण ढाँचा प्रस्तुत किया है तो प्रतिभा ने उसमें रंग भी भरा है। उन्होंने भूत की आधार-भूमि में वर्तमान की भित्ति पर भविष्यत् का प्रासाद खड़ा किया

है। ऐसे महाकवियों की वाणी राष्ट्र की वाणी है। माघ भी ऐसे ही अनघ महाकवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी रचना में कल्पना न तो आदर्श से बोझिल है और न आदर्श ही कल्पना से अनावृत है। तर्क और प्रतिभा का, आदर्श और यथार्थ का अथवा दूसरे शब्दों में दर्शन और जीवन का अनूठा सामञ्जस्य है। उन्होंने पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं किया है, वे सचमुच पण्डित थे; किन्तु उनका पाण्डित्य उनके कवित्व में पर्यवसित हो गया है। यह विशेषता ही उनको युग-युग आलोकित करती रहेगी।

संस्कृत-साहित्य में कुमारसंभव, मेघदूत तथा रघुवंश—लघुत्रयी तथा किरातार्जुनीय, शिशुपालवध एवं नैषधीय-चरित—वृहत्त्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें शिशुपालवध वास्तव में सामाजिक जीवन के निकट का काव्य है। यह उसमें संतुलन स्थापित कर सकता है। यह बहुमुखीन अनुभवों से भरा है। इसमें एक ऐसा राजनैतिक वातावरण है जो स्वर्ग तथा पृथ्वी के बीच एक आत्मीय सम्बन्ध-सूत्र सा स्थापित करता है। उसके माध्यम हैं इसके नायक भगवान् श्री श्रीकृष्ण। इसमें पार्थिव आकर्षण के भी चित्र हैं, किन्तु प्रवन्ध के प्रावाहिक होने के कारण उसी के अंग बस जाते हैं। प्रकृति का उन्मुक्त वर्णन है, साथ ही अलङ्कार के रूप में भी उसका पर्याप्त समावेश है। मनुष्य के कार्यों में उसका अन्तर्व्यक्तित्व ओत-प्रोत होता है। माघ अनघ थे। अतः उनकी रचना भी उनकी अनघता से ओत-प्रोत है।

शिशुपालवध का प्रथम सर्ग तो नितान्त उपयोगी है। नारद जी का शुभागमन, भगवान् श्री श्रीकृष्ण द्वारा उनका अभिनन्दन, पुनः नारद जी द्वारा भगवान् श्री श्रीकृष्ण का प्रत्यभिनन्दन तथा इन्द्र-सन्देश उपस्थापन, प्रथम सर्ग के ये ही मुख्य विषय हैं।

इस पर अन्य सर्गों की तरह महामहोपाध्याय मल्लिनाथ जी की सर्व-ङ्कषा टीका तो है ही, अपनी "चन्द्रप्रभा" विवृति में श्लोकों के अर्थों को

मैने भरसक विवृत करने का प्रयत्न किया है। "चन्द्रप्रभा" महामहोपाध्याय वाचस्पति मिश्र की "भामती" की तरह मेरी श्रीमती जी का नाम नहीं, अपितु मेरी विवृति का नाम है। वह पाठकों का गन्तव्य पथ कहाँ तक अलोकित करेगी—यह तो वे ही बता सकेंगे। हाँ, मैंने विवृति-रचना का प्रयास अवश्य किया है। "विशेष" संकेत के द्वारा निगूढ़ बातें भी बता दी गई हैं। हिन्दी अनुवाद में भरसक वास्तविक अर्थ व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

प्र० पु० प्रथम पुरुष तथा प्र० वि० प्रथमा विभक्ति का; द्वि० द्वितीया, तृ० तृतीया, च० चतुर्थी, पं० पञ्चमी, ष० षष्ठी तथा स० सप्तमी विभक्ति का चिह्न है। इसी तरह वि० विभक्ति, पु० पुरुष तथा व० वचन का चिह्न है। एकवचन के लिए ए०, द्विवचन के लिये द्वि०, तथा बहुवचन के लिए ब०, संकेत का प्रयोग किया है। "महाकवि माघ," "शिशुपालवध," "शिशुपालवध की दर्शनिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि," "शिशुपालवध का प्रतिनायक शिशुपाल," "शिशुपालवध का ऐतिहासिक आधार" इन चार शीर्षकों से शिशुपालवध की विषय-सामग्री को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही संस्कृत तथा हिन्दी में प्रथमसर्ग की संक्षिप्त कथा लिख दी गई है। और श्लोक संख्या क्रम से विषय सामग्री का भी विभाजन कर दिया गया है। यदि मेरे इस प्रयास से पाठकों को कुछ भी लाभ पहुँचे तो मुझे बड़ा ही संतोष होगा।

प्रयाग
४-१२-६४ } भट्ट पं० रामप्रिय देवाचार्य

महाकवि माघ

जीवनकाल—"तावद् भा भारवेर्भाति यावन् माघस्य नोदयः" —संस्कृत साहित्य में इस सूक्ति का अविरल प्रचार है। इससे यह स्पष्ट है कि माघ भारवि के परवर्ती तथा साहित्यिक क्षेत्र में उनसे बढ़े-चढ़े थे। माघ थे भी भारवि के प्रतिद्वंद्वी। "किरातार्जुनीय" तथा "शिशुपालवध" के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात बहुत अंशों में स्पष्ट-सी हो जाती है। कुछ लोगों की तो यहाँ तक कल्पना है कि माघ कवि का "माघ" यह वास्तविक नाम न होकर भारवि की प्रतिद्वन्द्विता में रखा हुआ नाम है। जो हो, भारवि का समय निश्चित है। पुलकेशिन द्वितीय के अयोहल के शिला-लेख में उनका उल्लेख है। पुलकेशिन द्वितीय सम्राट् हर्ष का समकालिक है। हर्ष का समय है विक्रम की सातवीं शती का पूर्वार्ध। राजानक आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में माघरचित शिशुपालवध के तीसरे सर्ग के ५३वें तथा पाँचवें सर्ग के २६वें श्लोक को उद्धृत किया है। इससे यह सिद्ध है कि माघ आनन्दवर्धन के पूववर्ती हैं। आनन्दवर्धन काश्मीर-शासक अवन्तिवर्मा की राजसभा के प्रमुख विद्वानों में से थे यह,

"मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥"

कल्हण-रचित राज-तरंगिणी के पाँचवें तरंग के ३४वें उद्धृत श्लोक से स्पष्ट है। अवन्तिवर्मा का शासन-काल ७९८ विक्रमी से ८२६ विक्रमी तक (८५५ ई० से ८८३ ई० तक) है। इस तरह माघ का जीवनकाल भारवि से परवर्ती तथा आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। यह समय हो सकता है विक्रमी की सातवीं शती का अन्त अथवा आठवीं शती का पूर्वार्ध। ईसवी संवत् में ५७ जोड़ने से विक्रमाब्द बन जाता है। गुर्जर

शासक वर्मलात के वसन्तगढ़ (राजस्थान) वाले शिला-लेख से भी माघ का जीवनकाल निश्चय करने में बड़ी सहायता मिलती है। यह शिलालेख ६८२ विक्रमी (७३९ ई०) का है। माघ के पितामह सुप्रभदेव वर्मलात के प्रधानामात्य थे। पितामह का जीवनकाल स्पष्ट होने से पौत्र का जीवन काल सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है। इस तरह माघ का जीवनकाल प्रायः निश्चित ही है।

देश तथा वंश—माघ का जन्म गुर्जर देश में श्रीमाल नामक स्थान में असाधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इस वंश में जप, तप, दान, स्वाध्याय प्रवचन, अग्निहोत्र, अतिथि-शुश्रूषा तथा इतर वैदिक कर्मकाण्ड अनवरत रूप में प्रवर्तमान था। माघ के पितामह सुप्रभदेव वर्मलात के प्रधान मन्त्री, धर्म शिक्षक तथा प्रधान सेनापति थे। वर्मलात पर उनकी धीरता, वीरता तथा बुद्धिमत्ता का बड़ा ही प्रभाव था। वे देवता के समान विशुद्ध चरित्र के व्यक्ति थे। समयानुसार नपी-तुली तथा भविष्य में ही हित साधन करने वाली बातें करते थे। माघ के पिता का नाम दत्तक था। वे बड़े ही उदार, क्षमावान्, विनीत तथा धार्मिक प्रकृति के ब्राह्मण थे। सब के प्रति सौजन्य-पूर्वक व्यवहार करने तथा यथाशक्ति सब की सहायता करने के कारण आस-पास के प्रदेश में वे "सर्वाश्रय" नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। ऐसे पिता तथा पितामह का माघ के चरित्र पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा था।

माघ का वैशिष्ट्य—जीवन और जगत् के विषय में माघ का ज्ञान विस्तृत, सुश्रृंखल तथा सुलझा हुआ है। कवि-प्रतिभा के साथ उनका शास्त्रीय ज्ञान भी असाधारण कोटि का है। वे वेद, वेदाङ्ग (विशेषतः व्याकरण), दर्शन, राजनीति, भूवृत्त, इतिहास, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, संगीत, अश्व-विद्या, मन्त्र-विद्या, आयुर्वेद, अश्व-शास्त्र, वास्तु-विद्या तथा युद्ध-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी रचना में उनके असाधारण अध्ययन तथा बहुमुखीन अनुभव की अमिट छाप-सी है। साहित्य के प्रत्येक

अङ्ग का उनको व्यापक बोध था। पद-योजना में, प्रबन्ध निर्वाह में, वस्तु चित्रण में, भाव अंकन से और यथासंभव आदर्श से प्रस्तुतीकरण में भी वे परम प्रवीण थे। इस दिशा में तो वे कवि-कुलगुरु कालिदास के समान माने जा सकते हैं।

उनका पर्यवेक्षण बड़ा ही अनूठा है। रसों, अलङ्कारों तथा छन्दों के प्रयोग में वे कुशल शिल्पी हैं। उनकी प्रशंसा में कवि राजशेखर ने बहुत ही अच्छा कहा है :—

> "कृत्स्न-प्रबोध-कृद् वाणीं भारवेरिव भारवैः।
> माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ॥"

"भगवान् भास्कर की प्रभा की तरह भारवि की वाणी भी सारे संसार को प्रबुद्ध करने वाली है, किन्तु जिसके समक्ष भास्कर की आभा मन्द पड़ जाती है ऐसे माघ मास के से प्रताप-संकोचक माघ कवि (जिनके सामने भारवि की भी आभा मन्द पड़ जाती है) से किसे नहीं कम्प होता ?"

शिशुपालवध

> मुरारि-पद-चिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु।
> मुरारि-पद-चिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु ॥
>
> मुरारि कवि

"यदि भगवान् श्री श्रीकृष्ण के चरणों का चिन्तन करना है, तो अघ (पाप) में अनुराग मत करो। यदि मुरारि कवि के पदों का चिन्तन करना है तो माघ (माघ कवि के काव्य शिशुपालवध) में अनुराग करो।" मुरारि बड़े स्वाभिमानी थे। शास्त्रों का अध्ययन कोई कर ले, परन्तु शास्त्रों के मर्मों का बोद्धा मुरारि अपने को ही मानते थे। उनके मुख से माघ की यह थोड़ी भी प्रशंसा बड़े महत्त्व की है। कइयों ने लघुत्रयी में मेघदूत की तरह बृहत्त्रयी में शिशुपालवध को बड़ा ही महत्त्व प्रदान किया है। यों क्षेमेन्द्र ने "औचित्य चर्चा" में तथा वल्लभदेव ने "सुभाषितावलि" में माघ

के कुछ फुटकल पद्य भी उद्धृत किये हैं। किन्तु माघ की एकमात्र रचना है शिशुपालवध। यह एक सर्व-लक्षण-सम्पन्न महाकाव्य है।

कालिदास की उपमा, भारवि के अर्थ-गौरव तथा दण्डिन् के पद-लालित्य की संस्कृत साहित्य में बड़ी चर्चा है। माघ की रचना में इन तीन गुणों का अनूठा समावेश है। किसी कवि ने काव्यों में शिशुपालवध को सर्वमहान् मान करके उसका गौरव बढ़ाया है। यह २० सर्गों में समाप्त हुआ है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसकी कथा महाभारत पर आधारितहै। इसके नायक वार्ष्णेयसिंह भगवान् श्री श्रीकृष्ण हैं। यह एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है। शृङ्गारादि रसों का इसमें अङ्गरूप से समावेश है। इसमें व्यतिरेक, काव्यलिंग, उपमा, तद्गुण, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, श्लेष, रूपक, विरोधाभास, प्रतिवस्तूपमा, परिवृत्ति, समासोक्ति, विषम, दृष्टान्त, निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, परिणाम, दीपक, स्वभावोक्ति तथा तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों एवं वंशस्थ, अनुष्टुप्, उपजाति, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शालिनी, पथ्या, उपेन्द्रवज्रा, जलधरमाला, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, कुररीरुता, स्रग्विणी, मत्तमयूर, दोधक, सुमंगला, स्कन्धक, आर्या, जलोद्धतगति, पुष्पिताग्रा, भ्रमरविलसित, मालिनी,पृथ्वी, वंशपत्रपतित,स्वागता,मंजुभाषिणी, रथोद्धता, उद्गता, वैतालीय, रुचिरा, औपच्छन्दसिक तथा शार्दुलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें पर्वत, समुद्र, षट्ऋतु, पुष्पचयन, जल-विहार, मधुपान, सुरतोत्सव, सन्ध्या, चन्द्रोदय तथा प्रभात आदि का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है। ओज और प्रसाद का आपेक्षिक ढंग का समावेश है। ध्वनिप्रधान होने के कारण इसकी गणना उत्तम काव्यों में है। शब्द व्याकरण की कसौटी पर कसे और जहाँ-तहाँ विभिन्न शास्त्रों से सम्बद्ध पारिभाषिक ढंग के भी हैं। इतना होने पर भी उनके माधुर्य और ओज में शिथिलता नहीं आयी है। भाषा में अविरल प्रवाह है। भाव सुलझे तथा हृदय-स्पर्शी हैं। वर्ण्य विषय का प्रस्तुतीकरण, क्रमिक, विशद

तथा चित्रात्मक ढंग का है। शब्दसन्निवेश तथा अर्थसन्निवेश दोनों ही दिशा में माघ का प्रयत्न अनघ है।

शिशुपालवध पर वल्लभदेव की "सन्देह-विषौषधि," मल्लिनाथ की "सर्वङ्कषा," भरत मल्लिक की "सुबोधा," दिनकर मिश्र की "सुबोधिनी" तथा गोपाल की "हसन्ती" नाम की टीका है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इस पर रङ्गराज, एकनाथ तथा चरित्र-वर्धन की भी टीकाएँ हैं।

शिशुपालवध की दार्शनिक तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि

कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसके काव्य में उसके युग के समाज की झाँकी-सी मिलती है। समाज युग के अनुरूप होता है। कवि युग का प्रवर्तन करता है। प्रवर्तन का माध्यम होता है उसका दर्शन। उसे ही वह जीवन में अवतारित करता है, क्योंकि दर्शन जीवन में अवतरित होकर आचार का रूप ग्रहण करता है। आचार का आपेक्षिक रूप अथवा दूसरे शब्दों में देश, काल तथा पात्र के अनुरूप उसका असाधारण ढंग का गठन ही चरित्र है। कवि अथवा नाटककार अपने काव्य अथवा नाटक के चरित्र को समाज के समक्ष आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है। इसके लिए उसे वातावरण की सृष्टि करनी पड़ती है और इसी में उसका कौशल विन्यस्त होता है। किसी कवि के काव्य अथवा नाटककार के नाटक के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिये उसकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का अध्ययन करना सर्वथा अनिवार्य होता है। साथ ही तत्कालीन समाज का विवेचनात्मक अथ च विशद बोध होना भी आवश्यक है, क्योंकि कवि अथवा नाटककार समाज को ही लक्ष्य करके अपने काव्य अथवा नाटक का प्रणयन करता है। यों माघ को बौद्ध दर्शन का पर्याप्त बोध था और भगवान् तथागत के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा भी थी और कदाचित् इसीलिए कि वे भगवान् विष्णु के अवतार थे। "भगवान् पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए अवतार लेते हैं," अन्य आस्तिकों की तरह वे इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। बुद्ध

की तरह ऋषभदेव भी भगवान् विष्णु के अवतार थे; फिर भी उनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म का शिशुपालवध में कहीं उल्लेख नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म उन दिनों भी जीवित-जागृत अवस्था में था। शिशुपालवध में जिन बहिरंग विषयों का आलङ्कारिक ढंग से समावेश है वे सभी प्राशंसिक हैं। सम्भव है, जैन-धर्म के उल्लेख का कोई प्रसंग न लब्ध हुआ हो। माघ कम-से-कम गिरिनार से तो पूर्ण परिचित थे। वह गुजरात का ऐतिहासिक स्थान होने के साथ जैन-तीर्थ स्थान भी है। माघ के उदय के पहिले उत्तर भारत हर्षवर्धन की छाया में सुरक्षित था, साथ ही दक्षिण भारत में चालुक्यों का प्रताप भी अक्षुण्ण था। जैसे वर्धन बौद्ध धर्म के पोषक थे वैसे ही चालुक्य अन्य धर्मों की तरह जैन-धर्म के। इतना होने पर भी यह सत्य है कि अशोक, कनिष्क और हर्ष द्वारा सम्मानित बौद्ध धर्म अन्तर्राष्ट्रीय हो चला था। कम-से-कम एशिया के पूर्वी देशों में तो राष्ट्र-धर्म बन चला था। जो भी हो, उसमें कोई असाधारणता अवश्य थी। उसने माघ को प्रभावित किया था। फिर भी माघ वैदिक धर्मानुयायी थे। बौद्धागम का अध्ययन, उन्होंने बुद्धिवैभव के विस्तारार्थ किया था।

माघ के जीवनकाल में आस्तिक कहे जाने वाले लोगों में शैव और वैष्णव दोनों वेद-सम्मत धर्मों का प्रचार था। फिर भी माघ वैष्णव थे और यथा-सम्भव श्री-वैष्णव। शिशुपालवध का प्रणयन तो उन्होंने भगवान् श्री श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिए ही किया था। श्री श्रीकृष्ण का चरित्र भारतीय राजनीति तथा दर्शन का समंजस प्रतीक है। माघ ने जिस समाज को लक्ष्य करके शिशुपालवध का प्रणयन किया था वह समृद्ध तथा विद्वान् भी था; किन्तु उसका राजनीतिक स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ रहा था। भारतवर्ष में ऐसा कोई शासक न था जिसका एकच्छत्र-शासन हो। वैयक्तिक स्वार्थ के समक्ष राष्ट्रीय स्वार्थ उपेक्षित हो रहा था।

कवि भविष्य द्रष्टा होता है। माघ कवि ही नहीं अपितु महाकवि थे।

प्रतिभा की आँखों से उन्होंने भारत की राजलक्ष्मी का भविष्य देख लिया था। वे उसे प्रशस्त बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। दर्शन की राजनीति पर और राजनीति की समाज पर अमिट छाप होती है। इस प्रकार दार्शनिक विकास सामाजिक विकास का परम्परया कारण होता है। बौद्ध और जैन धर्म के अनुरूप प्रस्तुत जीवन बड़ा ही नैतिक हो सकता है, किन्तु तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीतिक समृद्धि के लिये आस्तिक दर्शन के अनुरूप सामाजिक जीवन का गठन नितान्त आवश्यक था।

जीवन के पार्थिव और अपार्थिव दो रूप हैं। अपार्थिव जीवन के अनाकर्षक और अविशद होने की स्थिति में ही समाज पार्थिव जीवन से चिपकता है और ऐसा समाज या तो विलासी हो जाता है या निरीह। विलासी और निरीह समाज राजनीति के क्षेत्र में सार्वभौमिकता नहीं प्राप्त कर सकता। आस्तिक दर्शनों के आधार पर गठित समाज के समक्ष उसके पार्थिव जीवन की तरह उसके अपार्थिव जीवन की भी एक आकर्षक रूप-रेखा होती है। उसके दो पार्श्व हैं, स्वर्ग और मोक्ष। प्रायः सभी समाजों में प्रवृत्ति-प्रधान तथा निवृत्ति-प्रधान दो प्रकार के लोग होते हैं। आस्तिक दर्शनों पर आधारित समाज में प्रवृत्ति-प्रधान लोगों के लिए स्वर्ग और निवृत्ति-प्रधान लोगों के लिए मोक्ष का मार्ग खुला हुआ है। जप, तप, दान-यज्ञ, स्वाध्याय, प्रवचन तथा ईश्वराराधन पार्थिव तथा अपार्थिव दोनों ही जीवनों को उन्नत बनाने वाले साधन हैं। आस्तिक दर्शनों पर आधारित समाज न तो विलासी होता है और न निरीह। विलासिता और निरीहता से मुक्त समाज ही अपनी राजनीतिक अस्वस्थता दूर कर सकता है।

इस दिशा में समाज के समक्ष आदर्श चरित्र की आवश्यकता होती है। माघ ने भगवान् श्री श्रीकृष्ण को आदर्श पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। "शिशुपालवध" के श्री श्रीकृष्ण महाभारत के श्री श्रीकृष्ण हैं। वे असाधारण योद्धा, असाधारण राजनीतिज्ञ तथा असाधारण दार्शनिक होने के

साथ-साथ असाधारण लोक-नायक भी हैं। षोडशकलापूर्ण भगवान् विष्णु के अवतार तो हैं ही, समाज के प्रवृत्ति-प्रधान तथा निवृत्ति-प्रधान दोनों ही प्रकार के लोगों के लिए वे सर्वमहान् आदर्श हैं। माघ के मत के अनुसार प्रलय की दशा में जगत् और मोक्ष की दशा में जीव उन्हीं में लीन हो जाता है। जिन्होंने इन्द्रियों-सहित मन को निगृहीत कर लिया है वे ही अपने आध्यात्मिक नेत्रों से बहुत प्रयत्न के साथ उनके वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर सकते हैं।

माघ के मत में वे उदासिता, साक्षि-स्वरूप तथा प्रकृति के विकारों से मुक्त पुरातन पुरुष हैं। माघ के इस दर्शन में सांख्य की छाप है, फिर भी माघ वेदान्ती थे, साथ ही विशिष्टाद्वैतवादी। माघ व्यावहारिक जीवन में शत्रु-निग्रह तथा पारमार्थिक जीवन में मनो-निग्रह के पूर्ण पक्षपाती हैं। शिशुपालवध के नायक भगवान् श्री श्रीकृष्ण के जीवन में उनका आदर्श पूर्णरूपेण पल्लवित, पुष्पित अथच फलित हुआ है। भगवान् श्री श्रीकृष्ण शिशुपाल से इसलिए नहीं खिन्न हैं कि वह उनके प्रति अपराध करता है; उससे वे इसलिए खिन्न हैं कि वह समाज को पीड़ित करने वाला है। श्री बलराम तो ऐसे पापियों की कथा को भी नितान्त अमंगलकारिणी मानते हैं। समाज को ऐसे दुष्टों से बचाने का सरल उपाय इनको नष्ट कर देना है। इसके लिए राष्ट्र में एक विनेता की आवश्यकता होती है। माघ का युग ऐसे विनेता से शून्य था। यों माघ के काव्य में राजनीति का एक उन्मुक्त वातावरण है, किन्तु उसके पृष्ठ में दर्शन की प्रेरणा तथा आगे एक स्वस्थ समाज का प्रातिभ रूप है।

शिशुपालवध का प्रतिनायक शिशुपाल

यह भगवान् श्री श्रीकृष्ण का फुफेरा तथा धर्मराज युधिष्ठिर का मौसेरा भाई था। यह चेदि राष्ट्र (आधुनिक त्रिपुरी के आस-पास के प्रदश) का शासक था। माहिष्मती नगरी इसकी राजधानी थी। इसकी

माता का नाम श्रुतश्रवस् था। सात्वत् (यदुवंश) कुल की कन्या होने के कारण वह सात्वती भी कहलाती थी। शिशुपाल के पिता का नाम दमघोष था। शिशुपाल बड़ा ही शूरवीर तथा स्वाभिमानी क्षत्रिय था। मगध का राजा जरासन्ध इसका अभिन्न मित्र था। यों भगवान् श्री श्रीकृष्ण से इसका स्वाभाविक वैर था, किन्तु रुक्मिणी का हरण करने तथा जरासन्ध के वधार्थ भीम को कूट-नीतिक मार्ग निर्देश करने के कारण वे उसकी आँखों में खटक रहे थे। वह उनसे युद्ध करने का कोई न कोई बहाना ढूँढ़ रहा था।

एक बार जब कि भगवान् श्री श्रीकृष्ण नरकासुर का वध करने के लिए गये थे, उस समय उसने द्वारका नगरी पर आक्रमण कर दिया था और बभ्रु नामक यदुवंशी की स्त्री का अपहरण कर लिया था। कालयवन, रुक्मि (विदर्भ का राजकुमार), शाल्व तथा द्रुम आदि कृष्ण-विरोधी राजा उसके सहायक थे। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वह भगवान् श्री श्रीकृष्ण के हाथों मारा जायगा, इसलिए श्रुतश्रवस् ने भगवान् श्री श्रीकृष्ण से उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना की थी। भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने उसको वचन दिया था कि "मैं इसके सौ अपराधों को सहन करूँगा।" भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। बचपन में शिशुपाल के चार बाहें तथा तीन आँखें थीं। क्षत्रिय होने पर भी इसके संस्कार असुरों के से थे।

शिशुपालवध का ऐतिहासिक वृत्त

पाण्डव प्रथम वनवास के दिनों को पूरा करके इन्द्रप्रस्थ पर अधिकार कर चुके थे। भगवान् श्री श्रीकृष्ण की कृपा तथा अर्जुन, भीम और नकुल तथा सहदेव के पराक्रम से धर्मराज युधिष्ठिर ने समस्त जम्बू द्वीप (एशिया) को विजित करके अपार धन एकत्र कर लिया था। इस प्रकार अतुल साम्राज्य तथा अपार वैभव प्राप्त करके युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे। भगवान् श्री श्रीकृष्ण के अनुयायी तथा विरोधी प्रायः समग्र जम्बू-द्वीप

(एशिया) के राजा इस यज्ञ में आमन्त्रित थे। इस यज्ञ में भगवान् श्री श्रीकृष्ण सर्वकर्म-द्रष्टा थे। शेष सभी राजा यज्ञ के कार्यों में योग्यतानुसार भाग ले रहे थे। यह एक ऐतिहासिक यज्ञ था। यज्ञ बड़ी धूम-धाम से समाप्त हुआ। याज्ञिक ब्राह्मण दक्षिणादि के द्वारा सत्कृत हुए।

अब सदस्य-पूजा का समय उपस्थित हुआ। शास्त्रानुसार यज्ञ समाप्त होने पर गुणवान् को अर्घ्य देने का विधान है। यह प्रतिष्ठा किसको दी जाय? इस विषय में युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा। शास्त्रानुसार स्नातक (अंगों-सहित वेदों का अध्यापन करने वाला ब्राह्मण), गुरु, बन्धु, जामाता, राजा तथा ऋत्विज् याज्ञिक ये छः सदस्य पूजा के अधिकारी होते हैं। यदि कोई सर्वगुण-सम्पन्न हो तो वह एक भी इसका अधिकारी होता है। भीष्म ने इस प्रतिष्ठा के लिए भगवान् श्री श्रीकृष्ण को ही सर्वमहान् बतलाया। युधिष्ठिर ने उन्हीं का पूजन किया। शिशुपाल से श्री श्रीकृष्ण का यह सम्मान देखा नहीं गया। वह मारे क्रोध के आँखें लाल-लाल करके ऊँची-ऊँची तथा गर्म-गर्म श्वास लेने लगा। धर्मराज तथा भीष्म की निन्दा करके भगवान् श्री श्रीकृष्ण पर तरह-तरह का आक्षेप करने लगा। साथ ही नरकासुर के वेणुदारी के हाथ पर ताली देकर जोरों से हँसा। भगवान् श्री श्रीकृष्ण बिल्कुल मौन थे। वे मन-ही-मन शिशुपाल के अपराधों को गिन रहे थे। भीष्म से शिशुपाल की यह धृष्टता नहीं देखी गयी। उसके मुख से भगवान् श्री श्रीकृष्ण की निन्दा सुनकर वे क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने कहा—आज मेरे द्वारा की गई श्री श्रीकृष्ण की पूजा जिसे न अच्छी लगी हो वह धनुष उठाये। भीष्म के ऐसा कहने पर शिशुपाल के पक्ष के राजा यज्ञ मंडप से बाहर जाने के लिए उद्यत हो गये। शिशुपाल फिर कठोर बातें कहने लगा और उस स्थान से निकल कर श्री श्रीकृष्ण को युद्धार्थ ललकार करके सेना सज्जित करने लगा। पांडव और उनके पक्ष के राजा शान्त थे। सेना सज्जित करके शिशुपाल ने राज-सभा में अपना दूत भेजा। उसने श्लिष्ट शब्दों में श्री श्रीकृष्ण की निन्दा की। श्री श्रीकृष्ण

की प्रेरणा से सात्यकि ने उसके आक्षेपों का उचित उत्तर दिया, किन्तु फिर भी उसने बहुत सी उल्टी सीधी तथा लगने वाली बातें कहीं। इस पर श्री श्रीकृष्ण तथा उनके पक्ष के लोग अत्यन्त क्रुद्ध हो गए। अन्त में युद्ध छिड़ ही गया। शिशुपाल की सारी सेना मारी गई। सेना नष्ट होने पर वह स्वयं श्री श्रीकृष्ण से लड़ने लगा। लड़ते-लड़ते श्रान्त होकर कठोर बातें कहने लगा। अब उसके सौ अपराध पूरे हो चुके थे। भगवान् ने भी उसके वध में अधिक विलम्ब करना ठीक न समझ कर सुदर्शन चक्र से उसके शिर को धड़ से अलग कर दिया। इस समय उसके शरीर से एक तेजः-समूह निकल कर भगवान् श्री श्रीकृष्ण के शरीर में मिल गया। इससे सब को बड़ा ही विस्मय हुआ।

संस्कृते प्रथमसर्गस्य संक्षिप्ता कथा

"संक्षेपेण गृहीतार्थोऽध्येता वाचः विस्तरात् न विभेति न चार्थस्य क्रमशः बोधे वा स्खलति" अस्त्येतत् अनुभूतचरम्। अतः प्रथमसर्गस्य कथा इह संक्षेपेणोपस्थाप्यते।

जगतः शासनार्थं (सताम् रक्षायै असतां निग्रहाय) द्वारकायां स्वस्य पितुः श्रीवसुदेवस्य समृद्धिशालिनि राजसद्मनि निवसन् एकदा भगवान् श्री श्रीकृष्णः आकाश-मार्गेण भुवमवतरन्तं ब्रह्मणः मानसं पुत्रं देवमुनिं नारदम् अपश्यत्। पुरः समागते तस्मिन् महात्मनि भगवान् स्वासनाद् उत्थाय तम् अर्घ्यादिभिः उपचारैः सत्कृत्य स्वोपरि अशेष-तीर्थोपहृतं पाणौ निधाय तेन प्रोक्षितं तत् कमण्डलुजलं नतेन मूर्ध्ना स्वीकृत्य तं यथोचिते आसने उपवेश्य सम्मानवचोभिः अभिनन्द्य तदागमन-कारणं जिज्ञासुः स्वाभिप्रायम् आविरकरोत्। मुनिरपि नारदः बहुविधाभिः स्तुतिभिः भगवन्तं प्रत्यभिनन्द्य तद्दर्शनादधिकं योगिनाम् अपि न किमपि महत् कार्यमित्यभिधाय शिशुपालवधं प्रकृत्य महेन्द्रसन्दिष्टं वचः श्रावयामास। तत् श्रुत्वा स्मृत- शिशुपालकृतापकारः सञ्जातामर्षः तद्वधार्थं "तथास्तु" इति वचः

व्याहृवान् । प्रस्थिते च महामुनौ चैद्यं प्रति क्रुधस्य भ्रुकुटिच्छलेन व्योम्नीव तस्य वदने शत्रु विनाश-पिशुनः धूमकेतुः आविरभूत् ।

प्रथम सर्ग की संक्षिप्त हिन्दी-कथा

कभी संसार के शासनार्थ द्वारका नगरी में अपने पिता श्री वसुदेव जी के राज-भवन में निवास करते हुए भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने तेज:पुञ्ज के से प्रतीत होने वाले, शिर पर भूरी-भूरी जटा, कमर में मुञ्ज-मेखला, कृष्ण-मृगचर्म का अधोवस्त्र तथा चित्रल मृगचर्म का उत्तरीय वस्त्र धारण किये, हाथ में स्फटिक मणि की माला तथा वृहती नाम की अपनी वीणा लिए, आकाश मार्ग से अपनी ओर पृथ्वी पर उतरते हुए, ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद को देखा । उनके सामने आने पर भगवान् ने आगे बढ़कर अर्घ्य, पाद्य तथा आचमन आदि के द्वारा उनको सत्कृत किया और सभी तीर्थों से लाये हुए उनके कमण्डलु-जल के प्रोक्षण को शिर झुकाकर स्वीकार किया । उनको यथोचित आसन पर बिठाकर उनकी आज्ञा से स्वयं भी स्वर्णमय मंच पर बैठ करके विनीत वचनों से उनका अभिनन्दन करके उनके शुभागमन का कारण पूछा । नारद जी ने भी बहुत सी स्तुतियों के द्वारा उनका प्रत्यभिनन्दन करके मुख्य रूप से उनके दर्शन को ही आगमन का प्रयोजन निवेदित करके प्रसंगतः शिशुपालवध को लक्ष्य करके दिये गये इन्द्र के सन्देश को सुनाया—"प्राचीन काल में शत्रुओं के भय से निर्मुक्त, सूर्य के समान तेजस्वी, हिरण्यकशिपु नाम का एक असुर था। सर्वप्रथम उसने ही देवताओं के मन में भय को आहित किया । उस महावलशाली असुर के भयानक आक्रमण की आशंका से पहिले केवल सौंदर्य के लक्ष्य से सजी हुई अमरावती को प्राकार तथा परिखा आदि के द्वारा दुर्ग का आकार दिया गया, अस्त्रों तथा शस्त्रों को तीक्ष्ण किया गया, सेनाओं को गठित, सुसज्जित तथा शक्ति-सम्पन्न बनाया गया। वह स्वच्छन्दगामी बलवान् असुर जिधर भी निवास करता था देवता प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल उसी दिशा को शिरा झुका करके प्रणाम करते थे । आपने नृसिंह-शरीर धारण

करके उसका वध किया। दूसरे जन्म में अभिमान जनित कण्डु (खुजली) को देवताओं के साथ युद्ध के द्वारा दूर करने की इच्छा से वह रावण-नामक अत्यन्त भायानक राक्षस हुआ। उसने कैलास पर्वत को उठा लिया। अमरावती को विरूप किया, नन्दनोद्यान को छिन-भिन्न किया। रत्नों को लूटा, देवाङ्गनाओं को अपहृत किया। कुबेर पर आक्रमण करके उनसे उनका पुष्पक विमान छीन लिया।

धनुष बनाने के लिए यमदेव के वाहन भैंसे के सींग उखाड़ लिये। सूर्य ग्रीष्म ऋतु में भीत-भीत से होकर अपनी किरणों को उसकी नगरी में बिखेरते थे। चन्द्रमा तो सदैव अपनी समग्र कलाओं के साथ उनकी विलासिनियों को उत्कंठित बनाने के हेतु उदित होते थे। अपनी विलासिनियों के केश प्रसाधनार्थ कङ्घी बनाने के लिए उसने गजानन का एक दाँत ही उखाड़ लिया। पवन तो चाटुकार क्रीड़ासचिव की तरह सदैव उसकी इच्छा के अनुकूल ही वहा करते थे। उसके प्रचंड प्रताप के समक्ष अग्निदेव का तेज मन्द पड़ गया था। उसके भय से भुजङ्गों ने अपनी भुजङ्गता छोड़ दी थी। उसके हाथियों से आक्रान्त होकर दिग्गजों ने पलायन करके अपने प्राण बचाये। समस्त ऋतु पुष्प एवं फलोत्पादन के साधक बनकर समन्वित रूप से सेवा करने वाले सेवकों की भाँति उसके नगर के अधिवासी से बन गये थे। आपको मनुष्य-रूपधारी ईश्वर तथा अपना विनाशक जानते हुए भी उस अभिमानी ने अपहृत जानकी को नहीं लौटाया।

आपने समुद्र पर सेतु निर्मित कराकर लङ्का में जाकर दंडक वन से जानकी का अपहरण करने वाले उस अपराधी का वध किया था। यह तो आपको स्मरण होगा ही। वही रावण आज शिशुपाल के रूप में अवतीर्ण होकर देवता, असुर और राक्षसों को अनुगृहीत तथा निगृहीत करने में समर्थ होकर समस्त राजचक्र को अपने प्रताप से आक्रान्त कर रहा है। पहिले की तरह उस बल-दर्पित विजयेच्छु द्वारा संसार आज भी

पीड़ित हो रहा है। ब्रह्मा के शासन को भी उल्लङ्घित करने वाले उस उद्दंड को आप अवश्य यमदेव के गृह का अतिथि बनायें।" ऐसा कह करके नारद जी के प्रस्थित होने पर "तथास्तु" कह करके उनके वचन को स्वीकार करने वाले, शिशुपाल के प्रति क्रुद्ध भगवान् श्री श्रीकृष्ण के मुखमंडल पर भ्रुकुटि के आटोप के बहाने शिशुपाल के वध की सूचन देने वाला धूमकेतु आविर्भूत हुआ (वे क्रोधाविष्ट हो गये, उनकी भौंहें तन गयीं)।

प्रथम सर्ग की विषय-सामग्री का श्लोक क्रम से विभाजन

१ - स्वर्ग से द्वारकापुरी को लक्ष्य करके पृथ्वी पर उतरते देवर्षि नारद के तपोमय एवं तेजोमय शान्त पावन रूप की झाँकी। (श्लोक संख्या १ से श्लोक संख्या १० तक)

२—नारदजी का इन्द्र के वैजयन्त प्रासाद के से वसुदेवजी के समृद्धि-शाली राजभवन में पहुँचना। (श्लो० सं० ११)

३—उनको अपनी ओर आते देख उनके स्वागतार्थ भगवान् श्री श्रीकृष्ण का अपने उच्च आसन से उठना। (श्लो० सं० १२)

४—नारदजी का अपने चरणों को पृथ्वी तल पर विन्यस्त करना। (श्लो० सं० १३)

५—भगवान् श्री श्रीकृष्ण का अर्घ्यादि (अर्घ्य, पाद्य आचमनीय एवं आसन प्रदान) द्वारा नारदजी को सत्कृत करना। (श्लो० सं० १४-१५)

६—इन्द्रनील की बृहत् शिला की सी नीलिम कान्तिवाले भगवान् श्री श्रीकृष्ण के समक्ष बैठे चन्द्रमा की सी धवल कान्तिवाले नारदजी को दृष्टि-पथ में लेकर कवि की एक उत्प्रेक्षा। (श्लो० सं० १६)

७—नारदजी का सत्कार करके विधिपूर्वक यजन करनेवालों के प्रिय भगवान् श्री श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रसन्न होना। (श्लो० सं० १७)

८—देवर्षि नारद का समस्त तीर्थों से ले आये हुये अपने कमंडलु में

स्थापित जल को प्रसाद रूप में भगवान् श्री श्रीकृष्ण को अर्पित करना। (श्लो० सं० १८)

९-- भगवान् श्री श्रीकृष्ण की नीलिम तथा देवर्षि नारद की धवलिम आभा को लेकर कवि की कुछ चमत्कार पूर्ण कल्पनायें। (श्लो० सं० १९ से श्लो० सं० २२ तक)

१०--नारदजी के दर्शन से भगवान् श्री श्रीकृष्ण के हृदय में उद्‌बुद्ध प्रसन्नता की असीमता के विषय में कवि की दर्शन मूलक एक अद्‌भुतरस-मयी उक्ति। (श्लो० सं० २३)

११—देवर्षि नारद के शुभदर्शन से अत्यन्त तृप्त हुये उत्फुल्ल नेत्रोंवाले भगवान् श्री श्रीकृष्ण के "पुंडरीकाक्ष" नाम की अन्वर्थता। (श्लो० सं० २४)

१२—नारदजी के स्वागतार्थ भाषण प्रारम्भ करने वाले भगवान् श्री श्रीकृष्ण की वाणी की विशदता एवं स्मितपूर्वता (श्लो० सं० २५)

१३—भगवान् श्री श्रीकृष्ण द्वारा देवर्षि नारद के अभिनन्दनार्थ उपस्थापित एक संक्षिप्त एवं सारगर्भित वक्तव्य। (श्लो० सं० २६ से श्लो० सं० २८ तक)

१४—नारदजी के शुभागमन के विषय में उनसे भगवान् श्री श्रीकृष्ण का विनयपूर्ण प्रश्न। (श्लो० सं० २९-३०)

१५—देवर्षि नारद का भगवान् श्री श्रीकृष्ण के दार्शनिक रूप के विवेचन के साथ उनका प्रत्यभिनन्दन। (श्लो० सं० ३१ से श्लो० सं० ३९ तक)

१६—नारदजी द्वारा अपने आगमन के प्रयोजन के स्पष्टीकरण के प्रसंग में शिशुपाल के वध के उद्देश्य से देवराज इन्द्र द्वारा प्रेषित सन्देश का भगवान् श्री श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थापन। (श्लो० सं० ४०-४१)

१७—इन्द्र-सन्देश की विषय-सामग्री के रूप में भगवान् श्री श्रीकृष्ण के समीप "यह वही शिशुपाल है जिसने हिरण्यकशिपु तथा रावण रूप में

अपनी विभीपिका से त्रिभुवन को त्रस्त कर दिया था, उससे त्रस्त संसार को भयमुक्त बनाने के लिये उपर्युक्त नामों एवं रूपों वाले इस दुर्दान्त असुर के वधार्थ आपने श्रीनृसिंह तथा श्रीराम रूप को धारित किया था" नारदजी द्वारा इस तथ्य का उद्घाटन। (श्लो० सं० ४२ से श्लो० सं० ६६ तक)

१८––शिशुपाल के असहनीय आतंक का उल्लेख तथा उसके वधार्थ भगवान् श्री श्रीकृष्ण से देवराज इन्द्र की ओर से नारद जी की प्रार्थना। (श्लो० सं० ७० से श्लो० सं० ७३)

१६—नारदजी का स्ववक्तव्य का उपसंहरण। (श्लो० सं० ७४)

२०––देवराज इन्द्र के उपर्युक्त सन्देश को भगवान् श्री श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थापित करके और भगवान् द्वारा सन्दिष्ट कार्य को स्वीकृत कर लिये जाने पर देवर्षि के आकाश मार्ग से प्रस्थित होने पर चेदिराज शिशुपाल के प्रति क्रुद्ध भगवान् की भौंहों का तन उठना।

—

शिशुपालवधम्

प्रथमः सर्गः

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥१॥

सर्वङ्कषा—श्रिय इति । तत्रादौ श्रीशब्दप्रयोगाद् वर्णगणादिशुद्धेरभ्युच्चयः । तदुक्तम् "देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्या स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा" इति । श्रियः—लक्ष्म्याः । पतिः । अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इतिसूचितम् । "राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि" इति विष्णुपुराणात् । जगन्निवासः जगतामाधारभूतः कुक्षिस्थितभुवन इति यावत् । तथापि जगत् —लोकम् । शासितुम्—दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्यां नियन्तुम् । श्रीमति —लक्ष्मीयुक्ते । वसुदेवसद्मनि—वसुदेवरूपिणः कश्यपस्य वेश्मनि । वसन्—कृष्णरूपेण तिष्ठन् । हरिः—विष्णुः । अम्बरादवतरन्तम्—आयान्तम् । इन्द्रसन्देशकथनार्थमितिभावः । हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्—हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा ब्रह्माण्डःप्रभवत्वात् तस्य अङ्गभुवं—तनूजम् । अथवा तस्याङ्गादवयवात् उत्संगाख्याद् भवति इति हिरण्यगर्भाङ्गभूः तम् । मुनिम्—नारदमित्यर्थः । "उत्संगान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः" इति भागवतात् । ददर्श—कदाचिदिति शेषः अत्राल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकप्रभेदोऽर्थालङ्कारः । तदुक्तम् "आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः" इति । जगन्निवासस्य जगदेकदेशनिवासत्वमिति विरोधश्च । तथा तकारसकारादेः केवलस्यासकृदावृत्त्या जगज्जगदिति सकृद्व्यञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालङ्कारौ । एषां चान्योऽन्यनैरपेक्ष्येणैकत्र समावेशात्

तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः। सर्गेऽस्मिन् वंशस्थं वृत्तम्। "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात् ॥१॥

अन्वयः—श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुं श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अम्बरात् अवतरन्तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं ददर्श ॥१॥

विवृतिः—**श्रियः**—लक्ष्मी के। श्रयति सेवते हरिम् इति श्रीः लक्ष्मीः तस्याः। सेवार्थक श्रिञ् धातोः "क्विव्वचि"—(वा० ३।२।१७८) इति क्विव्दीर्घयोः "श्री" इति ततः प्रथमाबहुवचने पञ्चम्येकवचने षष्ठ्येकवचने च "श्रियः" इति। प्रकृते षष्ठ्येकवचनम्। **पतिः**—भर्ता। रक्षणार्थकपाधातोः इति प्रत्ययः। **जगन्निवासः**—संसार के आधार। गच्छति परिवर्तते इति जगत्। गम् धातोः "द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" (पा० ३।२।१७८) इति क्विपि "गमः क्वौ" पा० सू० ६।४।४० इति मलोपे "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" पा० सू० ६।१।७१ इति तुगागमे च "जगत्" "जगत्स्यात्पिष्टपे क्लीबं वायौ ना जंगमे त्रिषु" इत्यमरः। निवसन्ति अत्र प्राणिनः इति निपूर्वक वस् धातोः "हलश्च" पा० सू० ३।३।१२१ इति घञ् प्रत्यये "निवास" इति। जगतां निवासः जगन्निवासः। भुवनाधारः। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। **जगत्** लोकम्। संसार को। "जगत्" इति प्रथमाद्वितीययोः एकवचने रूपम्। प्रकृते तु द्वितीयैकवचनम्। **शासितुम्**—शासन करने के लिये (अर्थात् दुष्टों के दमन तथा सज्जनों के रक्षण के लिये) अनुशासनार्थक शासुधातोः तुमुन् प्रत्ययः। शासनशब्दस्य "अपवाद, निर्देश, निदेश, शिष्टिः, आज्ञाप्रभृतयः पर्यायशब्दाः। प्रकृते च नियमनार्थे कविना प्रयुक्तः। नियमनञ्च दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहौ एव। **श्रीमति**—समृद्धिशाली (धनधान्य से परिपूर्ण)। समृद्धिशालिनि। श्रीशब्दात् अस्त्यर्थे मतुपि "श्रीमत्" ततः पुंनपुंसकयोः" सप्तम्येकवचने "श्रीमति" इति। प्रकृते च वसुदेवसद्मविशेषणात् नपुंसकमेव। **वसुदेवसद्मनि**—वसुदेव के घर में। वसुदेवस्य "आनकदुन्दुभि" इत्यपरनाम्नः शूरसेनपुत्रस्य यादवक्षत्रियस्य सद्म गृहं वसुदेवसद्म तस्मिन्। "गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्मनिकेतनम्" इत्यमरः। **वसन्**—रहते हुए। निवसन्। वस्धातोः शतृप्रत्ययः। **अम्बरात्**—आकाश से। आकाशात्।

"अम्बरं व्योम्नि वाससि" इत्यमरः। **अवतरन्तम्**—उतरते हुए। अधः आगच्छन्तम्। अवपूर्वकतृधातोः शतृप्रत्यये "अवतरत्" इति ततः पुंसि द्वि० ए० वचने एतद् रूपम्। **हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्**—ब्रह्मा के पुत्र। हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा "इति मल्लिनाथः"। हिरण्यं हिरण्यमयम् अण्डं तस्य गर्भ इव हिरण्यगर्भः रामाश्रमदीक्षितः। हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणः अङ्गभूः अंगाद्भवति इति अंगपूर्वकाद् भूधातोः "भुवः संज्ञान्तरयोः" पा० सू० ३।२।१७६ इति क्विप् प्रत्ययः पुत्रः हिरण्यगर्भाङ्गभूः तम्। **मुनिम्**—मुनि को (नारद को)। नारदम्। ज्ञानार्थक मनधातोः इति प्रत्यये "मुनि" ततः द्वि० ए० वचने रूपम्। **ददर्श**—देखा। दर्शनार्थक दृश्धातोः लिट्-लकारस्य प्र० पु० ए० वचने म० पु० वहुवचने उ० पु० ए० वचने च "ददर्श" इति। प्रकृते प्र० पु० ए० वचनमेव। **अन्तर्कथा**=जगत् निर्मातुकामो भगवान् आदौ जलमेव असृजत्। ततः तस्मिन् सृष्टेः बीजम् न्यदधत्। तद्बीजम् सहस्रसूर्यसमप्रभम् हिरण्य(सुवर्ण)मयम् अण्डमभवत्। तत एव ब्रह्मा आविरभवत्। तस्मात् तस्य "हिरण्यगर्भ" इति नामधेयम् ॥१॥

हिन्दी अनुवाद :—संसार के नियमन (दुष्ट-दमन तथा सज्जनरक्षण) के लिये वसुदेव जी के समृद्धिशाली गृह (राजभवन) में निवास करते हुए संसार के आधारभूत (कृष्णरूप में अवतीर्ण) लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु ने (कभी) आकाश मार्ग से द्वारकापुरी की ओर आते हुए ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद को देखा ॥१॥

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधोधाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥१॥

सर्वङ्कषा :—गतमिति। अविद्यमानौ ऊरू यस्य सः अनूरुः सः सारथिर्यस्य तस्य **अनूरुसारथेः**—सूर्यस्य। **गतं**—गतिः। भावे क्तः। **तिरश्चीनं**—तिर्यक् भूतम्। "विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्" इतितिर्यक् शब्दादञ्चन्त्यात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे "ख" प्रत्ययः। **हविर्भुजः**—अग्नेः। **ऊर्ध्वज्वलनम्**-ऊर्ध्व-स्फुरणम्। प्रसिद्धम्। इदं तु सर्वतोविसारिधामाधः पतति। किमेतदिति? सूर्याग्निविलक्षणम् अदृष्टपूर्वमिदं धाम किमात्मकं स्यात्। **इत्याकुलम्**—

विस्मयात् सम्भ्रान्तं यथा तथा। **जनैरीक्षितम्**—ईक्षणं कृतम्। सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि भावे क्तः। "प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया" इति वचनात्। केचित् कर्मणिक्तान्तं कृत्वा ईक्षितं मुनिं ददर्शेति पूर्वेण योजयन्ति। अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधः-प्रसारणधर्मेणाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकः तदुक्तं काव्यप्रकाशे "उपमानाद्यन-न्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" इति। "धामरश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभा-वयोः" इति हेमचन्द्रः। **दिवाकरस्तु** वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन "द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमयं हुताशनः" इति चरण-द्वयेन सह इममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दसः उदाहरणमाह। तत्राद्यचरणद्वयेन सन्देहाकारो गतमिति तन्निरासश्च वोध्यः इत्युपरिष्टात्।

अन्वयः—अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनं प्रसिद्धम्। हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम्। सर्वतः विसारि (इदं) धाम अधः पतति। एतत् किम् इति जनैः आकुलं (यथास्यात् तथा) ईक्षितम् ॥२॥

विवत्ति :—अनूरुसारथेः—अनूरु (अरुण) हैं सारथि जिसके अर्थात् सूर्य का। अविद्यमानौ-ऊरू जानूपरिभागौ यस्य सः अनूरुः विनतापुत्रः गरुडाग्रजः अरुणः "सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः" इत्यमरः। सारथिः सूतः यस्य सः अनूरुसारथिः भगवान् सूर्यः तस्य। **गतम्**—गति, गमनम् भावे क्त प्रत्ययः। गम् + क्त इत्यवस्थिते अनुनासिकलोपे "गतम्" इति। **तिरश्चीनम्**—तिरछी। तिर्यक्भूतम् तिरस्पूर्वकाद् अञ्चधातोः "ख" प्रत्यये तस्य च ईनादेशे "तिरश्चीन" इति। प्रकृते च "गतम्" इत्यस्य विशेषणतया नपुंसकत्वात् प्रथमैकवचने तिरश्चीनमिति। **हविर्भुजः**—आग का। हविः आज्यं घृतम् अन्यद् वा आहवनीयं विविधदेवताः उद्दिश्य यजमानैः दीयमानं भुङ्क्ते इति हविर्भुक् तस्य। उपपदसमासः। हविस् पूर्वकाद् भुज्धातोः क्विप् प्रत्ययः। षष्ठीविभक्तेः रूपम्। **ऊर्ध्वज्वलनम्**—ऊपर की ओर प्रज्वलित होना। उपरि ज्वालारूपेण स्फुरणम्। **प्रसिद्धम्**—प्रतीतम् विदितमित्यर्थः प्रपूर्वकात् गत्यर्थक षिधुधातोः कर्तरि क्त

प्रत्ययः। सर्वतः—सब ओर। परितः समन्तात् सर्वशब्दात् तसिल् प्रत्ययः। विसारि फैलने वाला। विसरितुं विष्वक् व्याप्तुं शीलम अस्य इति "विसारि" विपूर्वकात् गत्यर्थक सृधातोः ताच्छील्ये णिनिप्रत्यये "विसारिन्," इति ततः प्रथमैकवचने द्वितीयैकवचने च "विसारि" इति प्रकृते च "धाम" विशेषणतया प्रथमैकवचनमेव धाम—तेज। दधाति धीयते वा इत्यर्थे डुधाञ् धातोः मनिन् प्रत्यये "धामन्" इति ततः प्रथमैकवचने द्वितीयैकवचने च "धाम" इति। प्रकृते च "पतति" क्रियायाः कर्तृत्वेन प्रथमैकवचनमेव "गृहदेहत्विट् प्रभावाधामानि" इत्यमरः। अधः—नीचे की ओर। नीचैः। पतति—गिर रहा है। पतनार्थक पत्लृधातोः लट्लकारे प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्। इति—अस्मात् कारणात् जनैः लोकैः द्वारिकावासिभिः इत्यर्थः। आकुलम्—व्यग्रता के साथ। ससंभ्रमम्। ईक्षितम्—देखा। अवलोकितम् दर्शनार्थक ईक्षधातोः कर्मणि क्तप्रत्ययः॥ २॥

हिन्दी अनुवाद :—सूर्य की गति तिरछी है। अग्नि का ऊपर को ज्वलित होना प्रसिद्ध है (इन दोनों की अपेक्षा विलक्षण) सभी ओर (मण्डल के आकार में) फैलने वाला यह तेज नीचे की ओर आ रहा है। यह "क्या है" इस प्रकार व्यग्रभाव से लोगों (द्वारकावासियों) द्वारा अवलोकित (नारद) को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा॥२॥

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥३॥

सर्वङ्कषा :—चय इति। विभुः—वस्तुतत्वावधारणसमर्थः। सः—हरिः। पुरा—प्रथमम्। त्विषां चय इत्यवधारितम्। तेजःपुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितम्। ततः—प्रत्यासन्ने। विभाविता—विमृष्टा आकृतिः—संस्थानं यस्य तं तथोक्तम्। अतएव शरीरी—चेतन इत्यवधारितम्। ततो विभक्ताः—विविच्य गृहताः। अवयवाः—मुखादयो यस्य तं तथोक्तम्। अतएव पुमान्—इत्यवधारितम्। अमुम्—आगच्छन्तं व्यक्तिविशेषं नारदम्। वास्तवाभिप्रायेण पुंल्लिगनिर्वाहः। क्रमात्—पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानक्रमेण। लोकदृष्ट्येदमुक्तम्। हरिस्तु सर्वं वेदवेतितत्वम्। नारद इत्यबोधि—

नारदं बुद्धवान् इत्यर्थः। नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहितत्वात् न द्वितीया। तिङामुपसख्यानस्योपलक्षणत्वात्। यथाह वामनः—"निपातेनाभिहते कर्मणि न कर्म विभक्तिः" परिगणनस्य प्रायिकत्वात्। बुध्यते कर्तरि युङ्। "दीपजन" इत्यादिना चिण्। "चिणो लुक्" इति तस्य लुक्। अत्र विभाविताकृतिं विभक्तावयवमित्यादिना आकृतिविभावनावयवविभावनयोः पदार्थयोः विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपुंस्त्वावधारणे हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः। "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्" इति लक्षणात्॥ ३॥

अन्वय :—विभुः सः पुरा त्विषां चय इति अवधारितम् ततः विभाविताकृतिं शरीरी इति (अवधारितम्) विभक्तावयवं पुमान् इति (अवधारितम्) अमुं क्रमात् "नारद" इति अवोधि॥ ३॥

विवृतिः—**विभुः**—व्यापक अथवा समर्थ। "विभुः प्रभौ व्यापके" इत्यनेकार्थसंग्रहः। **सः**—श्री श्रीकृष्णः। **पुरा**—प्रथम। प्रथमम्। "स्यात् प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा" इत्यमरः। **त्विषाम्**—तेजों का। दीप्त्यर्थक त्विष्धातोः क्विप्प्रत्यये "त्विष्" इति ततः षष्ठीबहुवचने "त्विषाम्" इति। "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड् भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः।" **चयः**—पुञ्ज। समूहः। चीयते इति चयनार्थक चिञ् धातोः कर्मणि "एरच् पा० सू० ३। ३। ५६ इत्यनेन अच्प्रत्ययः। "समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः" इत्यमरः। **अवधारितम्**—निश्चय किया। निश्चितम्। अपूर्वक णिजन्तधृधातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः इडागमश्च। "अमुम्" इत्यस्य विशेषणम्। द्वितीयैकवचनरूपम्। **ततः**—तत्-पश्चात्। तदनन्तरम् प्रत्यासन्ने इत्यर्थः। **विभाविताकृतिम्**—हाथ पैर आदि की धुँधली आकृति देखने पर। विभाविता विनिश्चिता आकृतिः संस्थानं लोके "ढाँचा" इति यस्य सः तम्। **शरीरी**—शरीरधारी। चेतनः। शरीरशब्दात् अस्त्यर्थे मत्वर्थीयः इनिप्रत्ययः। "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तु जन्यु.शरीरिणः" इत्यमरः। **विभक्तावयवम्**—मुख इत्यादि विभिन्न अंगों के स्पष्ट देखने पर।

विभक्ताः विविच्य गृहीताः साक्षात्कृता अवयवाः मुखादयः अङ्गानि यस्य सः तम् । "पुमान" इति—पुरुष । "पुरुष" इति । रक्षणार्थक पाधातोः "पातेर्डुमसुन्" ४। १७८ इत्युणादिसूत्रेण डुमसुन् प्रत्यये "पुमस्" इति ततः प्रथमैकवचने असुङागमे नुमागमादौ च "पुमान्" इति । **क्रमात्**—सामान्यविशेषज्ञानक्रमेण । "त्विषां चय" इति सामान्यं ज्ञानम् तदपेक्षया "शरीरी" इति विशेषज्ञानम् । तदपेक्षयाऽपि "पुमान्" इति विशेषज्ञानम् । "सामान्यज्ञानपूर्वकमेव विशेषज्ञानम्" इति नियमस्तु सर्वजनसिद्ध एव । **अमुम्**—उनको । आकाशादवतरन्तम् । अदस्शब्दात् पुंसि द्वितीयैकवचन-रूपम् । **नारद इति**—पुंसामयं "नारदः" इति विशेषरूपेण । **अबोधि**—जाना । ज्ञातवान् । अवगमनार्थक (ज्ञानार्थक) बुधधातोः कर्तरि लुङि प्र० पु० ए० वचनरूपम् ॥३॥

हिन्दी अनुवाद :—भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने प्रथम तेजःपुञ्ज रूप में, पुनः चेतन और पश्चात् विस्पष्ट रूप से साक्षात्कृत मुख आदि अवयवों वाला निश्चित किये गये (आकाश मार्ग से आने) वाले उस व्यक्ति विशेष को "यह नारद हैं" ऐसा समझा ॥३॥

नवानधोऽधः बृहतः पयोधरान् समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् ।
क्षणांक्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥४॥

सर्वङ्कषा :—नवानित्यादि । कीदृशममुम् ? **नवान्**—सद्यःसम्भृतस-लिलान् अतिनीलानिति यावत् । **बृहतः**—विपुलान् । **पयोधरान्**—मेघान् । **अधोऽधः**—मेघानां समीपाधः प्रदेशे स्थितमिति शेषः । "उपर्यध्यधसः सा-मीप्ये" इति द्विर्भावः । तद्योगेद्वितीया "उभ सर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिपु त्रिपु" इत्यादिवचनात् । **समूढः**—पुञ्जीकृतः । "समूढः पुञ्जिते भुग्ने" इति विश्वः । **कर्पूरस्य परागः**—चूर्णं तद्वत् पाण्डुरम् । अतएव **क्षणं**—मेघसमीपा-वस्थानक्षणे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । **क्षणेषु**—ताण्डवोत्सवेषु । "निर्व्या-पारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्युभयत्राप्यमरः । **उत्क्षिप्ता**—उपरि धारिता । **गजेन्द्रस्य कृत्तिः**—चर्मयेन तेन। "अजिनं चर्मकृत्तिः स्त्री" इत्यमरः । **भूत्या**—भस्मना **सितेन** । "भूतिर्भस्मनि सम्पदि" इत्यमरः ।

शम्भुना—स्फुटा उपमा यस्य तं स्फुटोपमम्। स्फुटशम्भूपममित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। सदृशपर्याययोस्तुलोपमाशब्दयोः "अतुलोपमाभ्याम्" इति निषेधात्सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः। केचिदिम श्लोकं "चयस्त्विषाम्" इत्यतः प्राग्लिखित्वा व्याचक्षते। तेषां पुंस्त्वावधारणात्प्राक् तेजःपिण्डमात्रस्य शम्भूपमौचित्यं चिन्त्यम् ॥४॥

अन्वयः—नवान् वृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपरागपाण्डुरं क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् (अमुम् नारद इत्यबोधि) ॥४॥

विवृतिः—**नवान्**—नवीन। नवीनान् जलभरितान् इत्यर्थः। "प्रत्यग्रोऽभिनवोनव्यो नवीनो नूतनो नवः नूतनश्च" इत्यमरः। **बृहतः**—विशाल। विशालान्। "विशङ्कटं पृथु बृहद् विशालं पृथुलं महत्। वड्रोरु विपुलम्" इत्यमरः। **पयोधरान्**—मेघों को। धरन्ति इति धराः पयसां धराः पयोधराः मेघाः तान्। तत्पुरुषसमासः। "पयोधरः कुचे मेघे" इति विश्वः पयस् पूर्वक धृञ् धातोः "पचाद्यच्" पा० सू० ३।१।१३४ इत्यनेन "अच्" प्रत्ययः। "उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु" इतिवार्तिकेन अधोऽधः शब्दयोगे द्वितीयाविभक्तिः। **अधोऽधः**—नीचे-नीचे। निम्न प्रदेशवाची "अधस्" शब्दः तस्यच "उपर्यधसः सामीप्ये" पा० सू० ८।१।७ इत्यनेन द्वित्वम्। स्थितमिति प्रसंगलब्धोऽर्थः। **समूढकर्पूरपरागपांडुरम्**—कपूर के चूर्ण की राशि के समान धवल। समूढ = पुञ्जीभूत। कर्पूरस्य परागः कर्पूरपरागः समूढश्चासौ कर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः समूढकर्पूर पराग इव पाण्डुरः समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः तम्। "मकरन्दः पुष्परसः परागः सुमनोरजः" इत्यमरः। विश्वकोषानुसारेण समूढः शब्दः "पुञ्जीभूत" इत्यर्थस्य वाचकः। पाण्डुरः धवलः "अवदातः सितो गौरोवलक्षो ध्वलोऽर्जुनः। हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरकोषवचनात्। **क्षणम्**—मेघसमीपावस्थानक्षणे। "क्षण" इति कालवाचीशब्दः ततः "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" पा० सू० २।३।५ इत्यनेन अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। **क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना**—क्षणेषु = ताण्डवोत्सवों में। उत्क्षिप्ता = अपने ऊपर धारण किया है। गजेन्द्रकृत्तिः = गज का चर्म। अर्थात्

ताण्डवनृत्य के अवसर पर हाथी का काला चमड़ा पीठ पर ओढ़े हुए। "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्यमरवचनात्। क्षणशब्दः कार्यशून्यस्थितौ घटीपरिमितकालस्य द्वादशभागे काले उत्सवे च प्रयुज्यते इह तु उत्सवार्थे प्रयोगः अतएव "क्षणोत्क्षिप्त" इत्यत्र प्रयुक्तस्य क्षणेषु इतमस्ये ताण्डवोत्सवेषु इत्यर्थः। उत्सवश्च भगवतः शिवस्य ताण्डव एव। क्षणेषु ताण्डवोत्सवेषु उत्क्षिप्ता आत्मनः उपरि धारिता गजेन्द्रकृत्तिः गजचर्म येन सः तेन। कृत्तिः इति चर्म नाम। **भूतिसितेन**—श्वेत भस्म लपेटे हुए। भूतिशब्दः भस्मनि सम्पदि च प्रयुज्यते। प्रकृते च भस्मनि एव प्रयोगः। सितः धवलः। भूत्या सितः भूतिसितः (भस्म इव गौर इति यावत्) तेन। **शम्भुना**—शंकर से। भगवता शिवेन। **स्फुटोपमम्**—स्पष्ट है सादृश्य जिनका उनको। स्फुटा स्पष्टा उपमा सादृश्यं यस्य सः तम् ॥४॥

हिन्दी अनुवाद :—भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने नवीन (जल से भरे अतएव नीले-नीले) अथच विशाल मेघों के निकटवर्ती निम्न प्रदेश में स्थित पुञ्जीभूत कर्पूरचूर्ण के सदृश धवल अतएव क्षण भर के लिये ताण्डवोत्सव में गजचर्म को ऊपर उठाये हुए भस्म के से गौर भगवान् शिव से स्पष्ट रूप से हो रही उपमावाले आकाशमार्ग से आने वाले उस व्यक्ति को "नारद" ऐसा समझा ॥४॥

दधानमम्भोरुहकेशरद्युतीर्जटा शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥५॥

सवङ्कषा—दधानमिति। पुनः—**अम्भोरुहकेशरद्युतीः**—पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः। **जटा दधानम्**—स्वयं तु शरच्चंद्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तम्। धवलमित्यर्थः। अतएव **विपाकेन**—परिणामेन। **पिङ्गाः**—पिङ्गलाः। तुहिनस्थल्याम् तुषारभूमौ रोहन्तीति **तुहिनस्थलीरुहः** ताः। **व्रततीततीः**—लताव्यूहान्। "वल्ली तु व्रतती लताः" इत्यमरः। **दधानम्**—**धराधरेन्द्रो** हिमवान्। तुहिनस्थलीतिलिङ्गान्नारदोपमानत्वाच्च। तमिव स्थितम् ॥५॥

अन्वय :—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानम् शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अतएव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः (दधानम्) धराधरेन्द्रमिव।

विवृतिः—**अम्भोरुहकेशरद्युतीः**—कमल के केसर के समान आभा वाली। अम्भसि जले रोहन्ति इत्यम्भोरुहानि कमलानि तेषां केसराः किञ्जल्काः अम्भोरुहकेसराः तेषां द्युतिः प्रभा इव द्युतिः यासां ताः। तत्पुरुष-गर्भित बहुव्रीहि समासः। **जटाः**—जटाओं को। सटाः। ग्रथिताः शिरःकेशाः जटाः उच्यन्ते। "मूले लग्नकचे जटा" इत्यमरः। **दधानम्**—धारण करते हुए। धारयन्तम्। धाधातोः शानच्प्रत्यये द्विर्भावे ह्रस्वत्वे धधा + आन इति जाते जश्त्वेन "ध" इत्यस्य दकारदेशे "दधान" इति ततः द्वितीयैकवचने "दधानम्" इति। **शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्**—शरद् ऋतु के चन्द्रमा की सी कान्ति वाले। मरीचि = किरण। रोचि कान्ति। शरदः चन्द्रः (आधा-राधेयभावे षष्ठी) शरच्चन्द्रः (त० पु० स०) तस्य मरीचयः किरणाः इव रोचिः प्रभा यस्य सः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिः तम्। **विपाकपिङ्गाः**—पुरानी हो जाने के कारण पीली। पचनं पाकः विशिष्टं पाकः विपाकः परिणामः परिपक्वावस्था इति यावत् विपूर्वक पच्धातोः घञ् प्रत्ययः। विपाकेन पिङ्गाः विपाकपिङ्गाः। त० पु० समासः। "कडारःकपिलः पिङ्गपिशङ्गौकद्रुपिङ्गलौ" इत्यमरः। पिङ्गशब्दः लोकभाषायां "भूरा" इति प्रसिद्धस्य समानार्थकः। **तुहिनस्थलीरुहः**—बर्फीले भागों में उगने वाली। तुहिनानां स्थल्यः तुहिन-स्थल्यः तुषारवत्यः भूमयः तासु रोहन्ति इति तुहिनस्थलीरुहः ताः। **व्रततीततीः**—लताओं के समूहों को। व्रततीनां लतानां ततयः संहतयः व्रततीततयः ताः (अवयवावयविभावे षष्ठी) त० पु० समासः। "दधानम्" —धारण करते हुए। इति उपमानपक्षे प्रसंगलब्धोऽर्थः। **धराधरेन्द्रम्**—पृथ्वी को धारण करने वाले (हिमालय) के समान। धरन्ति इति धराः धरायाः पृथिव्याः धराः धराधराः पर्वताः तेषाम् इन्द्रः राजेतियावत् धरा-धरेन्द्रः तम्। हिमवन्तमित्यर्थः। "धरा" इति पृथिव्याः "धर" इति च पर्वतस्य नाम ॥५॥

हिन्दी अनुवाद :—कमल के केसर की सी आभावाली जटाओं को

धारण करते (और स्वयं) शरत्काल के चन्द्रमा की सी कान्ति वाले अतएव परिपाकावस्था के कारण भूरी-भूरी वर्फीले भाग में उगनेवाली लताओं की संहतियों (समूहों) को धारण करते हुए पर्वतराज हिमालय के से आकाशमार्ग से आनेवाले उस व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ॥५॥

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥६॥

सर्वङ्कषा—पिशङ्गेति । पुनः कीदृशम् ? मुञ्जस्तृणविशेषः तन्मयी मेखला मौञ्जी पिशङ्गया मौञ्जया युज्यते इति **पिशङ्गमौञ्जीयुक्** तम् । "सत्सुद्विष्" इत्यादिना क्विप् । "स्त्रियाः पुंवत्" इति पिशङ्गशब्दस्य पुंवद् भावः । **अर्जुनच्छविम्**—धवलकान्तिम् । "वलक्षो धवलोऽर्जुनः" इत्यमरः । **अञ्जनद्युति**—अञ्जनवर्णम् । **एणाजिनम्**—कृष्णमृगचर्म । **वसानम्**—धारयन्तम् । वस् आच्छादने इति धातोः शानच् । **सुवर्णसूत्रेण**—कनकमेखलया **आकलितं**—बद्धम् । **अधराम्बरम्**=अन्तरीयकं यस्यास्ताम् । **शितिवाससः**—नीलाम्बरस्य रामस्य । **तनुं विडम्बयन्तम्** । अनुकुर्वाणमित्यर्थः । आर्थी उपमा ॥६॥

अन्वयः—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम् अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानम् (अतएव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् शितिवाससः तनुं विडम्बयन्तम् ॥६॥

विवृतिः—**पिशङ्गमौञ्जीयुजम्**—पीले रंग की मूँज की मेखला (करधनी) धारण किये हुए । मुञ्जस्य विकारः मौञ्जी (मुञ्ज+अञ्+ङीप्) पिशङ्गा चासौ मौञ्जी च पिशङ्गमौञ्जी पिङ्गलवर्णा मुञ्जमयी मेखलेति यावत् तया युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् तम् । **अर्जुनच्छविम्**—धवल कान्ति से युक्त । अर्जुना धवला छविः प्रभा यस्य स अर्जुनच्छविः तम् । **अञ्जनद्युति**—काजल के समान काले रंग की । अञ्जनस्येव द्युतिः भा यस्य तत् अञ्जनद्युति कृष्णवर्णमित्यर्थः । **एणाजिनम्**—काले मृग के चर्म को । एण=काला मृग ।

अजिन = चर्म । एणस्य कृष्णमृगस्य अजिनं चर्म एणाजिनम् । **वसानम्**—धारण करते हुए । परिदधानम् । आच्छादनार्थक वस् धातोः शानच् प्रत्यये "वसान" इति ततः द्वितीयैकवचने रूपम् । अतएव **सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम्**—सुवर्ण की मेखला से आबद्ध है अधःवस्त्र (धोती) जिसका । आकलित = आबद्ध । अधराम्बर = अधःवस्त्र (धोती) । सुवर्णनिर्मित कटिसूत्रेण आकलितम् । आबद्धम् अधराम्बराम् अधःवस्त्रं यस्याः सा ताम् । **शितिवाससः**—शिति = नील है । वासः = वस्त्र जिसका । अर्थात् बलदेव की । शितिनीलं वासः वस्त्रं यस्य स शितिवासाः तस्याः शितिवाससः बलदेवस्य । **तनुम्**—शरीरम् । **विडम्बयन्तम्**—अनुकरण करते हुए । अनुकुर्वन्तम् । चुरादिगणपठितात् अनुकरणार्थकात् विडम्बधातोः (णिजन्तात्) शतृप्रत्यये "विडम्बयत्" इति ततः द्वितीयैकवचने रूपम् ॥६॥

हिन्दी अनुवाद :—भूरे रंग की मूँज की मेखला (कटिसूत्र) से युक्त शुभ्रवर्ण वाले अथच अंजन के से रंग के कृष्ण मृग के चर्म को धारण किये हुए अतएव सुवर्णनिर्मित कटिसूत्र से बद्ध है अधःवस्त्र जिसका ऐसे नीलवस्त्र धारी बलदेव जी के शरीर का अनुकरण करते हुए आकाशमार्ग से आनेवाले उस व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ॥६॥

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनंघनान्ते तडितां गणैरिव ॥७॥

सर्वङ्कषा : विहङ्गेति—पुनः **विहङ्गराजङ्गारुहैरिव**—गरुत्मल्लोमतुल्यैः । **आयतैः**—दीर्घैः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी । "दण्डिनायन" इत्यादिना मयटि यलोप निपातः । तस्याम् ऊर्व्यां रुहाः रूढा । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । तासां **वल्लीनां तन्तुभिः**—तत्तुल्यैः सूक्ष्मावयवैः । उपादानगुणात् हिरण्यमयैः **कृतोपवीतं**—शोभार्थं कल्पितं यज्ञसूत्रं स्वयं हिमशुभ्रम् । अतएव **घनान्ते**—शरदि तडितांगणैरुपलक्षितम् । "तडित्सौदामिनी विद्युत्" इत्यमरः । उच्चैरेवोच्चकैः उन्नतम् । **घनम्**—मेघमिव स्थितम् ॥७॥

अन्वय:—विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतं हिमशुभ्रम् (अतएव) घनान्ते तडितां गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनमिव ॥७॥

विवृतिः—**विहङ्गराजाङ्गरुहैः**—पक्षियों के राजा, गरुड़ के अंगों में उगने वाले रोमों के समान। विहङ्गा पक्षिणः विहायसि आकाशे गच्छति इत्यर्थे "गमश्च" पा० सू० ३।२।४७ इति खच्प्रत्यये विहायसो "विह" (पा० ३।२।३८) इत्यनेन "विहायस्" इत्यस्य "विह" आदेशे विह+गम्+खच् इति स्थिते "खच्च डिद्वा" (पा० ३।२।३८) इत्यनेन खचः डित्वेन गम् इस्यस्य "अम्" भागस्य लोपे मुमागमे विहङ्ग इति। विहङ्गानां राजा विहङ्गराजः गरुडः, अङ्गे रोहन्ति इति अङ्गरुहानि लोमानि विहङ्गराजस्याङ्गरुहानि विहङ्गराजाङ्गरुहानि तैः। **आयतैः**—लम्बे। दीर्घैः। "दीर्घमायतम्" इत्यमरः। **हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः**—सुवर्णमयी पृथिवी अर्थात् सुमेरु पर्वत की भूमि में उगने वाली लताओं के सूत्रों से। हिरण्मयः स्त्री चेत् हिरण्मयी। हिरण्यशब्दात् मयट् प्रत्यये "दण्डिनायन" पा० सू० ६।४।१७४ इत्यनेन "हिरण्य" इत्यत्र स्थितस्य यकारस्य लोपः निपात्यते। हिरण्मयी चासौ ऊर्वी हिरण्मयोर्वी ("स्त्रियाः पुंवत्" पा० सू० ६।३।३४ इत्यनेन पुंवद्भावः) तस्यां रोहन्ति इति हिरण्मयोर्वीरुहाः ताश्च ताः वल्लयश्च तासां तन्तवस्तैः। **कृतोपवीतम्**-किया है यज्ञोपवीत जिसने उसको। कृतम् रचितम् उपवीतं यज्ञसूत्रं येन सः तम्। स्वयं तु **हिमशुभ्रम्**—हिम के समान गौरवर्ण। हिमवत् शुभ्रं हिमशुभ्रम् कर्मधारय समासः। तुषारोज्वलमित्यर्थः। अतएव **घनान्ते**—शरद् ऋतु में। शरदि। "घनान्त" इत्यत्र "घन" इति घनवत्कालस्य (वर्षाऋतोः) वाचकः। तस्यान्तः शरदेव। तत्र **तडितां गणैः**—बिजली के समूहों से। विद्युतां समूहैः (उपलक्षितम्) "तडित् सौदामिनी विद्युत्" इत्यमरः। **उच्चकैः**—ऊँचे। उन्नतम्। उच्चैरेवोच्चकैः। स्वार्थे क प्रत्ययः। **घनम्**—मेघम् इव (स्थितम्) ॥७॥

हिन्दी अनुवाद:—गरुड़ के रोमों के से लम्बे-लम्बे, सुवर्णमयी पृथिवी

(सुमेरु पर्वत के ऊपर की भूमि) में उगने वाली लताओं के तन्तुओं (जो कि सुवर्णमयी पृथ्वी में उगने वाली लताओं के तन्तु होने के कारण स्वयं भी सुवर्णमय है) का जिसने यज्ञोपवीत धारण किया है (और स्वयं) हिम की तरह गौर अतएव शरद् ऋतु में विद्युत्समूह से सुशोभित उन्नत मेघ के से (प्रतीत होने वाले) आकाश मार्ग से आने वाले उस व्यक्ति को भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ।।७।।

नोट—शरद् ऋतु के मेघ वर्षाकालिक मेघों के से नीले-नीले नहीं अपितु धवल-धवल होते हैं। सुवर्णमय लतातन्तुओं से निर्मित यज्ञोपवीत को धारण किये नारद की विद्युत्रेखाओं से सुशोभित शरत्कालिक मेघ के साथ उपमा स्वाभाविक ही है।

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद् विसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ।।८।।

सर्वङ्कषा—निसर्गेति। पुनः—निसर्गात् स्वभावादेव चित्राणि शवलानि उज्ज्वलानि भास्वराणि सूक्ष्माणि पक्ष्माणि—लोमानि यस्य तेन। लसन् यो बिसच्छेदः—मृणालखण्डः। "छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्" इति त्रिकाण्डशेषः। तद्वत्सिते अंगे वपुषि सङ्गिना—सक्तेन। चारुणा—मनोहरेण—चामूरुचर्मणा—मृगत्वचा। कुथेन—पृष्ठास्तरणेन। "प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः" इत्यमरः। इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमैरावतमिव। चकासतम्—शोभमानम्। इन्द्रस्य वाहनमिति स्वस्वामिभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् "वाहनमाहितात्" इति न णत्वम्। यथाह वामनः—"नेन्द्रवाहनशब्दे णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात्" इति। चकासतेः शतरि "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमभावः। "जक्षित्यादयः षट्" इत्यभ्यस्तसंज्ञा ।।८।।

अन्वयः—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद् विसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमिव चकासतम् ।।८।।

विवृतिः—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा—निसर्ग = स्वभाव। चित्र = चितकवरे। पक्ष्म = रोम। स्वभाव से ही चितकबरे और उज्ज्वल सूक्ष्म

रोम्रों वाले। निसर्गेण स्वभावेन "स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरः। चित्राणि शबलानि लोक-भाषायां "चित कबरा" इति प्रसिद्धानि "चित्रं किर्मीरक-ल्माषशबलैताश्च कर्बु रे" इत्यमरः। उज्ज्वलानि सूक्ष्माणि,पक्ष्मणि लोमानि यस्य तेन। "पक्ष्म" शब्दः विश्वकोषामरकोषादौ अक्षिलोम्निप्रसिद्धः किन्तु वल्लभदेवमल्लिनाथाभ्याम् लोम्नि प्रसिद्धोऽपि मतः। वल्लभदेवेन 'सूक्ष्माणि' इत्यर्थः कृतः। **लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना**—लसद् = शोभायमान। बिस = कमलनाल। छेद = खण्ड। सित = सफेद। शोभायमान कमलदण्ड के खण्ड की तरह गौर शरीर पर धारित। लसन् विलसन् योऽसौ बिसच्छेदः मृणालखण्डः तद्वत् यत् सितं गौरं तच्च तदंगं तस्मिन् सङ्गः सम्बन्धः संसर्गः यस्यास्ति तत् लसद्बिच्छेदसिताङ्गसङ्गि तेन। **चारुचमूरुचर्मणा**—चमूरु = चितकबरा मृग। चितकबरे मृग के सुन्दर चर्म से। चमूरुः चित्रलमृगः तस्य चर्म चमूरुचर्म चारु च तत् चमूरुचर्म चारुचमूरुचर्म तेन। **कुथेन**—हाथी की पीठ का आस्तरण (झूल)। गजपृष्ठास्तरणं "कुथ" इत्युच्यते "परिस्तोमः कुथो द्वयोः" इत्यमरः "कुथ" इति न सामान्यमास्तरणमपि तु 'वर्णकम्बल' लोकभाषायां "गलीचा" इति। मेदिनीकोषे तथैव प्रतिपादितत्वात्। **इन्द्र-वाहनम्**—इन्द्रस्य देवराजस्य वाहनः (वह + णिच् + कर्तरिल्युट्) इन्द्रवाहनः तम्। **नागेन्द्रम्**—ऐरावत। "नाग" इत्ययं शब्दः सर्पे हस्तिनि चोभयत्र प्रयुज्यते प्रकृते हस्तिनि प्रयोगः। नागानां गजानामिन्द्रः राजेति नागेन्द्रः ऐरावतः तम्। **चकासतम्**—शोभायमान। शोभमानम्। दीप्त्यर्थक चका-सृधातोः कर्तरि शतृ प्रत्यये जक्षित्यादितया अभ्यस्तत्वेन नुमः अभावे "चका-सतम्" इति ततः द्वितीयैकवचने "चकासतम्" इति ॥८॥

हिन्दी अनुवाद—शोभायमान मृणालखण्ड के से गौर शरीर पर धारित, स्वभाव से ही चित्रवर्ण उज्ज्वल और कोमल रोम्रों वाले, चित्रलमृग के सुन्दर चर्म से पृष्ठास्तरण से (सुशोभित) गजश्रेष्ठ ऐरावत के से आकाशमार्ग से आने वाले उस व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ॥८॥

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥९॥

सर्वङ्कषा—अजस्रमिति । पुनः अजस्रम्—प्राचुर्येण आस्फालिताः ताडिताः। सौष्ठवपरीक्षार्थं न्युञ्जाङ्गुष्ठेन तन्त्रीताडनं प्रसिद्धम्। तेषां वल्लकीगुणानां—वीणातंत्रीणां क्षतेन संघर्षणेनोज्ज्वलैरङ्गुष्ठनखांशुभिर्भिन्नया—मिश्रया तद्रागरक्तयेत्यर्थः । अतएव पुरः पुरो भागे प्रवालैर्विद्रुमैः। "अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः। पूरितार्धयेव—स्थितया अक्षस्फटिकाक्षमालया स्वच्छस्फटिकानां मालया । जपमालयेत्यर्थः। "अच्छो भल्लूके स्फटिकेमलेऽच्छाभिमुखेऽव्ययम्" इति हेमचन्द्रः। तथा प्रसिद्धस्फटिकग्रहणात् ऋषेः मोक्षार्थित्वं व्यज्यते। "स्फटिको मोक्षदः परम्" इति मोक्षार्थिनां स्फटिकाक्षमालाभिधानात्। विभान्तं भासमानम्। भातेः शतृप्रत्ययः । अत्र नखांशुभिन्नयेति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारलक्षणस्तद्गुणालङ्कारः उक्तः। "तद्गुणः स्वगुणत्यागात्" इति ॥६॥

अन्वय :—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् ॥६॥

विवृति :—अजस्रम्—निरन्तर । नित्यम्। "नित्यानवरताजस्रम्" इत्यमरः ।, आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया—आस्फालित=ताडित। वल्लकी=वीणाविशेष। गुण=तार। क्षत=संघर्षण। भिन्न=मिश्रित—अर्थात् लालिमा से मिश्रित। निरन्तर ताडित वीणा के तारों से घिसे हुए उज्ज्वल नखों की ज्योति से लालिमायुक्त। वल्लक्याः वीणाविशेषा याः गुणाः तन्त्रयः वल्लकीगुणाः आस्फालिताः ताडिताश्च ते वल्लकीगुणा आस्फालितवल्लकीगुणाः तै उद्घृष्टः यः उज्ज्वलश्चासौ अंगुष्ठनखः तस्य अंशवः किरणाः तैः भिन्ना स्ववर्णापेक्षया वर्णान्तरेण (रक्तवर्णेन) मिश्रा या सा तया। अतएव पुरः—अग्र भाग में। अग्रभागे – प्रवालैः—मूगों से। विद्रुमैः। "अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः। पूरितार्धया—पूरित अर्ध भाग वाली। पूरितम् अर्धं यस्याः सा पूरितार्धा तया। अच्छस्फटिकाक्षमालया—धवल स्फटिक मणि की जपमाला से। अच्छाः स्वच्छाश्च ते

मतेन चन्द्रकान्तमणयः) तेषां या अक्षमाला जपमाला तया । विभान्तम्—दीप्त होते हुए। भासमानम्। विपूर्वकात् दीप्त्यर्थकभाधातोः कर्तरिशतृप्रत्ययः। द्वितीयैकवचनरूपम् ॥९॥

हिन्दी अनुवाद :—निरन्तर आहत वीणा के तारों से संघृष्ट उज्ज्वल नखों की ज्योति से भिन्न-सी लगती (अपने स्वाभाविक उज्ज्वल वर्ण की अपेक्षा रक्तवर्ण की सी प्रतीत होती) अतएव मानो जिसका आगे का आधा भाग मूँगों से पूरित है ऐसी धवल स्फटिकमणि की जपमाला से दीप्त होते हुए आकाशमार्ग से आने वाले उस व्यक्ति को भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ॥९॥

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥१०॥

सवङ्कषा—रणद्भिरिति। पुनः नभस्वतः—वायोः । आघट्टनया—आघातेन । पृथक्—असंकीर्णं । रणद्भिः—ध्वनद्भिः, अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः । "श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः" इति लक्षणात्। तदुक्तं रत्नाकरे—"श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥" इति । श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः । तदुक्तम्—"प्रथमं श्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः । सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा॥" विभिन्नानि—प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितानि, श्रुतीनां मण्डलानि—समूहा येषां तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः । श्रुतिसंख्यानियमश्च दर्शितः—"चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिरृषभधैवतौ॥" षड्जादयः सप्तोक्तलक्षणाः । तदुक्तम्—"श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः । पंचमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥" तेषां संज्ञाः "सरिगमपधनीत्यपराः मताः ।" इति । तैः स्वरैः । स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकानां स्वरसंघातभेदानां त्रयाणां मूर्च्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदाः यस्यां ताम् । महतीम्—महतीनाम्नीं निजवीणाम् । "विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती

नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥" इति वैजयन्ती। **मुहुर्मुहुरवेक्षमाणम्**—तन्त्रीयोजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैवाऽविसंवादं ध्वनतीति कौतुकादनुसन्दधानमित्यर्थः। अथ ग्रामलक्षणम्—"यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणां सन्दोहो 'ग्राम' इत्यभिधीयते॥ षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च। गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम्॥" इति। तथा—"नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः। षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥" इति। मूर्च्छनालक्षणं च—क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्। सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त-सप्त च॥ "ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त-सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिः मूर्च्छनाः भवन्ति। तत्रेह नामानि तु नानपेक्षितमुच्यते" इति प्रतिज्ञाभङ्गभयान्न लिख्यन्ते इति सर्वमवदातम्। अत्र पुंव्यापारमन्तरेण स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणाया प्रतीयते। तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याऽभेदेनाध्यवसितत्वात् तन्मूलातिशयोक्तिरलङ्कारः। सा च महत्याः पुंव्यापारं विना मूर्च्छाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपतया पुंव्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद् विभावना व्यज्यत इत्यलङ्कारध्वनिरिति सङ्क्षेपः॥१०॥

अन्वयः—नभस्वतः आघट्टनया पृथक् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम् (अमुम् "नारद" इति अबोधि)

विवृतिः—**नभस्वतः**—वायु के। नभ आश्रयत्वेन अस्यास्ति इति नभस्वान् (नभस् + मतुप्) वायुः। "नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः" इत्यमरः। तस्य। **आघट्टनया**—आघात से। आङ् पूर्वकात् चलनार्थकात् णिजन्तात् घट्टधातोः भावे युच्प्रत्यये स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्प्रत्यये च "आघट्टना" इति। वल्लभदेवेन "आस्फालना" मल्लिनाथेन "आघात" इति च अस्य शब्दस्यार्थः कृतः अस्य पर्यायशब्दो वा प्रयुक्तः। "आघट्टनया" इति आघट्टनाशब्दस्य तृतीयैकवचनरूपम्। **पृथक्**—पार्थक्येन असंकीर्णं यथा स्यात्

तथा। **रणद्भिः**—ध्वनित होते हुए। ध्वनद्भिः। "रण" इति भौवादिकः धातुः शब्दार्थकः चलनार्थकश्च। अत्र शब्दार्थकः। ततः शतृप्रत्यये रणद्भिरिति तस्य तृतीया बहुवचनरूपम्। तस्य च "अनुरणनोत्पद्यमानैः" इति मल्लिनाथेनार्थः कृतः। "अनुरणनात्मकध्वन्युत्पन्नैः" इति तस्याभिप्रायः। **विभिन्नश्रुतिमण्डलैः**—नियत संख्या में व्यवस्थित श्रुतियों के समूहों वाले। श्रुतीनां मण्डलानि समूहाः श्रुतिमण्डलानि विभिन्नानि प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितानि श्रुतिमण्डलानि येषां ते तैः। **स्वरैः**—षड्ज आदि सात स्वरों से। संगीतशास्त्रे "षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इति सप्तभिः नामभिः प्रसिद्धैः"। **स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम्**—जिसमें ग्रामों की भिन्न-भिन्न मूर्च्छनायें स्फुट हो रही हैं। स्फुटीभवन्त्यः (स्फुट + च्वि + भू शतृ + ङीप्) ग्रामविशेषाणां नन्द्यावर्त, जीमूत, सुभद्र इति त्रिभिः नामभिः संगीतशास्त्रे प्रसिद्धानां मूर्च्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदाः यस्यां सा ताम्। **महतीम्**—'महती' नारद की वीणा का नाम है। वैजयन्ती (कोष) मतेन नारदमुनेः "महती" इति नाम। तामेवात्मनः वीणाम्। **मुहुर्मुहुः** बार-बार असकृत् पुनः पुनरित्यर्थः। **अवेक्षमाणम्**—देखते हुए। अवलोकयन्तम्। अव पूर्वकात् दर्शनार्थक "ईक्ष" धातोः कर्तरि शानच् प्रत्यये पुंसि "अवेक्षमाण" इति ततः द्वितीयैकवचने रूपम्। **इदमत्रावधेयम्**—माघेन कविना अस्मिन् पद्ये संगीतशास्त्रीयं पाण्डित्यं प्रदर्शितम्। अस्मिन् पद्ये "श्रुति, स्वर, ग्राम मूर्च्छनेति च चत्वारः संगीतशास्त्रीयाः ज्ञातव्यविषयाः वर्तन्ते। प्रस्तुतपद्यार्थज्ञाने एतेषामपि परिचयः नितान्तमावश्यकः। **श्रुतिः**—अन्यत्र 'श्रुति'पदेन वेदाः उच्यन्ते कर्णावपि च परन्तु संगीतशास्त्रे श्रुतिपदेन अन्योऽर्थः गृह्यते। प्रथमं श्रवणात् ह्रस्वमात्रावानेवशब्दः श्रूयते स्वरारम्भकावयवः तादृशः शब्दः "श्रुतिः" इत्युच्यते। **स्वरः**—श्रुत्यनन्तरं जायमानः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः श्रोतृजनचित्तरञ्जकः ध्वनिप्रवाहः "स्वर" इत्युच्यते। स्वतः (साधनान्तरं विनैव) श्रोतृजनचित्तरञ्जकत्वमेव स्वरस्य स्वरत्वम्। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत निषाद इति च सप्तभेदाः स्वरस्य। षड्ज मध्यम पञ्चमेति त्रयाणां प्रत्येकं चतस्रः निषादगान्धारयोश्च द्वे-द्वे ऋषभधैवतयोश्च तिस्रः तिस्रः श्रुतयः भवन्ति।

ग्रामः—स्वराणां समुदायः समवायः (मेलनमित्यर्थः) "ग्राम" इत्युच्यते। नान्द्यावर्त, सुभद्र, जीमूत इति च त्रयः ग्रामाः। एते एव च षड्जग्राम, मध्यमग्राम, गान्धारग्राम इति च उच्यन्ते। मूर्च्छना—क्रमात् सप्तानां स्वराणाम् आरोहावरोहौ "मूर्च्छना" इत्युच्येते। मूर्च्छना च नन्द्यावर्तादिषु ग्रामेषु तिष्ठति। एकविंशतिः मूर्च्छनाः भवन्ति ताः ग्रामत्रये प्रत्येकं सप्त-सप्त। इति सर्वं स्पष्टम्। इतोऽधिकं भरतमुनिप्रणीते नाट्यशास्त्रेऽनुसन्धेयम् ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—वायु के आघातवश असंकीर्णरूप से ध्वनित होते हुए अथच नियत संख्या में व्यवस्थित श्रुतिसमूहों वाले स्वरों के द्वारा जिसमें ग्रामों की भिन्न-भिन्न मूर्च्छनायें स्फुट हो रही हैं ऐसी (अपनी) "महती" नाम की वीणा का बार-बार अवलोकन करते हुए "आकाश मार्ग" से आने वाले उस व्यक्ति को भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने "नारद" ऐसा समझा ॥१०॥

नोट—४ से लेकर १० संख्या तक के श्लोक "कुलक" हैं। कुलक ऐसे पद्यसमूह को कहते हैं जो किसी एक विशेष्य के विशेषण रूप में उपन्यस्त होते हैं। ४ से लेकर के १० संख्या तक के श्लोकों में प्रयुक्त द्वितीयान्त तीसरे श्लोक में प्रयुक्त "अमुम्" के विशेषण हैं। कुलकों की रचना "खण्डान्वय" के क्रम से होती है। खण्डान्वय में विशेष्य को पहिले उपन्यस्त करते हैं। वास्तव में कुलक एक वाक्य होता है क्योंकि उसमें प्रधान क्रिया एक होती है। यहाँ "अबोधि" क्रिया है, उसका कर्ता है "विभुः" "सः" है श्रियः पतिः आदि संज्ञाओं का प्रतिनिधिभूत सर्वनाम। "नारद इति" विधेय है। इस प्रकार इस कुलक के एक-एक श्लोक का यदि पृथक-पृथक् अर्थ किया जाय तो प्रत्येक में "अमुम्" नारद "इत्यबोधि" की आवृत्ति अनिवार्य होगी। क्योंकि ऐसा न करने पर आकाङ्क्षा की शान्ति न होने से वाक्य अपूर्ण रह जायगा।

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभः सदः।
समासदत् सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारुचक्रिणः ॥११॥

सर्वङ्कषा—निवर्त्येति। अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्व-रूपाद्विप्रकृष्टार्थः। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया "इति समासः" "द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गता प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति विशेष्यलिङ्गत्वम्। तेषां ज्ञानं तस्य निधिः। सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः। **कृतानतीन्**—कृतप्रणामान्। **अनुव्रजतः**—अनुगच्छतः। **नभसि**—आकाशे। **सीदन्ति**—गच्छन्ति इति। **नभःसदः**—सुरान्। "सत्सुद्विष्" इत्यादिना क्विप्। **निवर्त्य**—प्रतिषिध्य। **सः**—मुनिः। **सादितदैत्यसम्पदः**—सादिताः विध्वस्तीकृताः दैत्यानां सम्पदः येन तस्य। **चक्रिणः**—कृष्णस्य। **पदम्**—स्थानम्। **महेन्द्रालयचारु**—इन्द्रभवनमिव भासमानम्। **समासदत्**—समाङ् पूर्वात् षद्लृधातोर्लुङ्। "पुषादि" इत्यङ्। अत्र "नतीनती" पदः पदमितिच द्वयोः व्यञ्जनयुग्मयोः असकृद् आवृत्त्या **छेकानुप्रासः** अन्यत्र **वृत्त्यनुप्रास** इत्यनयोः संसृष्टिः।

अन्वयः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः कृतानतीन् अनुव्रजतः नभःसदः निवर्त्य सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत् ॥११॥

विवृतिः—**अतीन्द्रियज्ञाननिधिः**—आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों से अग्राह्य विषयों के ज्ञान की निधि। ज्ञायते इति ज्ञानम् (ज्ञा + ल्युट्) "धीर्ज्ञानम्" इत्यमरः। इन्द्रियम् अतिक्रान्ता अतीन्द्रियाः नेत्ररसनाघ्राणकर्णत्वगादिभिः ज्ञानेन्द्रियैः अग्राह्याः विषयाः इत्यर्थः तेषां ज्ञानम् अतीन्द्रियज्ञानम्। समासस्तु इंद्रियमतिक्रान्तम् अतीन्द्रियम् तच्च तज्ज्ञानम् अतीन्द्रियज्ञानम् तस्य निधिः (नि + धाञ् + कि) "निधिर्नाशेवधिः" इत्यमरः। अतीन्द्रियज्ञाननिधिः। मल्लिनाथेन "अतीन्द्रियज्ञाननिधिः" इति पदस्य "देशकालस्वरूपाद् विप्रकृष्टानां अर्थानां (विषयाणाम्) यद्ज्ञानं तस्य निधिः (खजाना) सर्वार्थ द्रष्टा" इत्यर्थः कृतः। **सः**—नारदः। **कृतानतीन्**—किया है प्रणाम जिन्होंने। कृताः (कृ + क्त) आनतयः (आङ् + णम + क्तिन्) प्रणामाः यैः ते कृतानतयः तान्। **अनुव्रजत्**—पीछे आने वाले। अनुपूर्वकाद् गमनार्थकव्रजधातोः शतृप्रत्यये "अनुव्रजतः" इतितत: द्वितीयाबहुवचने "अनुव्रजतः" इति रूपम्। तरञ्च "अनुः

इत्यर्थः । नभःसदः—देवों को । नभसि आकाशे सीदन्ति गच्छन्ति इति नभःसदः देवाः तान् । नभस् पूर्वकात् गमनार्थकात् षद्लृधातोः "सत्सुद्विष्" पा० सू० ३ । २ । ६१ इत्यनेन क्विप्प्रत्यये "नभःसद्" इति ततः द्वितीया बहुवचने "नभःसदः" इति । निवर्त्य—लौटा कर । प्रतिषिध्य । निपूर्वकात् वृतुधातोः क्त्वाप्रत्यये तस्यच ल्यबादेशे "निवर्त्य" इति । सादितदैत्य-सम्पदः—राक्षसों की सम्पत्ति को विध्वस्त करने वाले । दितेः पुत्राः दैत्याः (दिति + ण्य) तेषां सम्पत् (सम् + पद् + क्विप्) लक्ष्मीः "अथ संपदि श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः । दैत्यसंपत् । दानवलक्ष्मीः इत्यर्थः । सादिता (षद्लृ + णिच् + कर्मणि क्त + टाप्) दूरीकृता दैत्यसंपद् येन सः तस्य । तत्पुरुषगर्भित बहुव्रीहिसमासः । चक्रिणः—कृष्ण के । चक्रम् (सुदर्शनाख्यम्) अस्यास्ति इति चक्री (चक्र + इनि) तस्य कृष्णरूपेणावतीर्णस्य भगवतः विष्णोः । महेन्द्रा-लयचारु—इन्द्र के भवन के समान सुन्दर । इन्दति ईष्टे शास्ति इति वा इन्द्रः (इदि + रन् + नुमागमः) महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः देवराजः तस्य आलयः भवनम् महेन्द्रालयः (ष० त० समासः) तद्वत् चारु मनोहरं महेन्द्रालयचारु (कर्मधारय समासः) । पदम्—निवास स्थान को । स्थानम् । "पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः । पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोः अङ्कवस्तुनः" इति विश्वः । समासदत्—पहुँचे । प्रापत् । सम् आङ् पूर्वकात् षद्लृधातोः लुङि प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥११॥

हिन्दी अनुवाद—अतीन्द्रिय देश काल और स्वरूप से परे ज्ञानों के निधि वे नारद जिन्होंने (विदाई देने के समय का) प्रणाम किया है ऐसे अपने पीछे-पीछे आने वाले आकाश मार्ग से विचरण करने वाले देवजनों को लौटाकर दानवों की लक्ष्मी को विध्वस्त करने वाले भगवान् श्री श्रीकृष्ण के इन्द्र के राजभवन के से सुशोभित निवासस्थान पर पहुँचे ॥११॥

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥१२॥

सर्वङ्कषा—पतदिति । पतन्यः पतङ्गः—सूर्यः स प्रतिमोपमानं यस्य

सः । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । तपोनिधिः—मुनिरस्य—हरेः पुरः भुवि—पुरः प्रदेशे यावन्न व्यलीयत —नातिष्ठत् । 'लीङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । तावदच्युतः—हरिः । गिरेः—शैलात् । तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान् —मेघ इव । 'मादुपधायाश्चमतोर्वोऽयवादिभ्यः इति मतुपो मकारस्य वकारः । 'तसौ मत्वर्थे' इति भसंज्ञायामेकसंज्ञाधिकारेणाऽपदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चकैः—उन्नतात्पीठादासनाज्जवेनोदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शात्प्रागेव स्वयमुत्थितवान् । 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥' इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भावः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इति नियमादिहोर्ध्वकर्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासम्भवादियमभूतोपमेत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः । अत एवाप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याधुनिकालङ्कारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ॥१२॥

अन्वयः—पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुरः भुवि यावत् न व्यलीयत तावत् अच्युतः गिरेः तडित्वान् इव उच्चकैः पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ॥१२॥

विवृतिः—**पतत्पतङ्गप्रतिमः**—आकाश से उतरते हुए सूर्य के समान । पतन् (पत् + शतृ) पतङ्गः सूर्यः प्रतिमा (प्रतिमीयतेऽनया इति प्रति पूर्वकाद् मा धातोः आतश्चोपसर्गे पा० सू० ३ । ३ । १०६ इत्यनेन "अङ्" प्रत्ययः "प्रतिमा" इत्ययं शब्दः पाषाणादिधातुनिर्मितदेवमुनिमनुष्यादीनां "प्रतिकृतौ" लोकभाषायां "मूर्ति" इति प्रसिद्धेऽर्थे प्रयुज्यते । केषांचित् कोषकाराणां मते "उपमा" इत्यर्थेऽपि अस्य प्रयोगः इष्टः । अत्रोपमार्थे एव प्रयोगः कृतः माघेन) उपमा यस्य सः पतत्पतङ्गप्रतिमः कर्मधारयगर्भितबहुव्रीहिसमासः । **तपोनिधिः** तपस्वी (नारद) । निधीयते इति निधिः (नि + धाञ् + कि) तपसां निधिः तपोनिधिः शरीरं मानसं वाङ्मयमिति त्रिविधं तपः । देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् शौचम् आर्जवम् (अकुटिलता) ब्रह्मचर्यम् अहिंसा चेति शरीरम् । अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियं हितं च वचनम्, स्वाध्यायाभ्यसनं चेति वाङ्मयम् । मनः

प्रसादः, सौम्यत्वं मौनम्, आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिश्चेति मानसं च तपः स्पष्टमेतत् सप्तदशेऽध्याये श्रीमद्भगवद्गीतायाः। "तपोनिधिः" इतिच "नारद" विशेषणम्। अस्य—इनके (श्रीकृष्ण के)। भगवतः श्रीकृष्णस्य। पुरः भुवि—अग्रवर्ती स्थान में।पुरोवर्तिनि स्थाने। यावत्—यावत्कालम्। यत्परिमाणमस्य इति विग्रहे यत्शब्दात् "डवतु" प्रत्ययः। "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः। प्रकृते कालपरिमाणेऽस्य प्रयोगः। न व्यलीयत—खड़े नहीं हो गये। न अतिष्ठत् न आगच्छत् इत्यर्थः। दिवादिगणपठितात् गत्यर्थकात् "लीङ्" धातोः कर्तरिलङि प्र० पु० ए० वचने रूपम्। तावत् तावत्कालमेव। "तावत्" इत्यत्र च तत् शब्दात् डवतु प्रत्ययः यावदिवायमपि अव्ययशब्दः। अच्युतः–श्रीकृष्ण। श्री श्रीकृष्णः। नास्ति च्युतं स्खलनं स्वपदात् यस्य सः अच्युतः। गत्यर्थकात् "च्युङ्" धातोः "गत्यर्था" पा० सू० ३।४।७२ इत्यनेन क्त प्रत्यये "च्युतम्" इति ततः नास्ति च्युतमस्येति विग्रहे नञ् समासे "अच्युत" इति गिरेः—पर्वत से। शैलात् "अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः" इत्यमरः। तडित्वान्—मेघ तडितः विद्युतः अस्य सन्ति इति तडित्वान् (तडित् + मतुप्) मेघः। "तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत" इत्यमरः। उच्चकैः—उन्नतात्। पीठात्—आसन से। आसनात्—"पीठमासनम्" इत्यमरः। "विष्टरः पीठमस्त्रियाम्" इति त्रिकाण्डशेषः। पीठशब्दः आसने आचार्यकुले (विश्वविद्यालये) च प्रयुज्यते। इह तु आसने प्रयुक्तः। जवेन—वेग से। वेगेन। "रंहस्, तरस्, रय, स्यद, जव" प्रभृतयः शब्दाः वेगार्थे प्रयुज्यन्ते। उदतिष्ठत्—उठे। उत् पूर्वकात् स्था धातोः लङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। उत्पूर्वक स्था धातुः उत्थानार्थकः। विनीतो युवा मान्यान् दृष्ट्वा स्वासनम् त्यक्त्वा उत्तिष्ठेत् अग्रे गत्वा च तान् प्रणम्य तेभ्यः निजासनापेक्षया उन्नतं आसनं दत्वा तैः आज्ञप्तः पुनः निजासनमधितिष्ठेदिति शिष्टाचारः। भगवानपि कृष्णः देवर्षेः सत्कारार्थं स्वासनं त्यक्त्वा तदागमनात् प्रागेवोत्थायाऽतिष्ठत् ॥१२॥

हिन्दी अनुवाद—आकाश से उतरते हुए, भगवान् सूर्य के समान (महान् तेजस्वी) तपोनिधि महर्षि नारद जब तक कि इनके आगे आकर

खड़े नहीं हुए तब तक भगवान् श्री श्रीकृष्ण जैसे मेघ पर्वत (की चोटी) से उठता है वैसे ही बड़े वेग के साथ अपने ऊँचे आसन से उठ खड़े हुए ।।१२।।

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथंचित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥१३॥

सवङ्कषा—अथेति । अथ अच्युताभ्युत्थानानन्तरम् । धातुः सुतेन—नारदेन । प्रयत्नोन्नमितास्तथापि मुनिपादन्यासभारादानमन्त्यः फणा येषां तैः । फणिनां गणैरधोऽधःप्रदेशे । कथंचिद्धृते—स्थापिते । भुवस्तले—भूपृष्ठे । अभिदेवकीसुतं—देवकीसुतमभिलक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । चरणौ—पादौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । न्यधायिषातां—निहितौ । दधातेः कर्मणि लुङ् । 'स्यसिच्सीयुट्' इत्यादिना । चिण्वदिटि युक् । अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ॥१३॥

अन्वयः—अथ धातुः सुतेन प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः अधः कथंचित् धृते भुवः तले अभिदेवकीसुतं चरणौ न्यधायिषाताम् ।

विवृतिः—अथ श्रीकृष्ण के उठने के पश्चात् । श्रीकृष्णोत्थानानन्तरम् । "मंगल, अन्तर, आरम्भ, प्रश्न कार्त्स्न्य (समग्रता), अधिकार, प्रतिज्ञा, अन्वादेश (किंचित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य पुनः उपादानम् अन्वादेशः "यथा अथो इमं वेदमध्यापय अथो एनं छन्दोऽपि "समुच्चयप्रभृतिष्वर्थेषु अथ" शब्दस्य "अथो" शब्दस्य च प्रयोगः इष्टः अथः 'इति अनन्तरम्' इत्यर्थे अस्य प्रयोगः । श्री श्रीकृष्णोत्थानान्तरमिति तस्याभिप्रायः । अव्ययजातीयः शब्दोऽयम् । धातुःसुतेन—ब्रह्मा के पुत्र (नारद) ने ब्रह्मणः पुत्रेण नारदेनेत्यर्थः धारणपोषणयोः द्वयोः अर्थयोः वर्तमानात् "धाञ्" धातोः कर्तरि तृच्प्रत्यये "धातृ" शब्दः सिद्ध्यति । तस्य च ब्रह्मा पालकश्चेति द्वौ अर्थौ । प्रकृते ब्रह्मणोऽर्थे प्रयोगः । "धातुः" धातृशब्दस्य पंचमीषष्ठ्योःएकवचनरूपम् । इह तु षष्ठ्येकवचनमेव । सुतः पुत्रः । "आत्मजःतनयः सूनुःसुतः पुत्रः" इत्यमरः । प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः—प्रयत्न के द्वारा उठाये जाने पर भी झुकते हुए फणों

वाले। प्रयत्नेन उन्नमिताः उत्थापिताः (किन्तु मुनिचरणभाराधिक्यात्) आनमन्त्यः अधः गच्छन्त्यः फणाः येषां ते प्रयत्नोन्नमितानमत्फणाः तैः। फणा स्फटा चेति सर्पशिरोदेशस्य नामनी। "स्फटायां तु फणाद्वयोः" इत्यमरः। **फणिनां गणैः**—नागसमूहों द्वारा। फणाः सन्ति एषामिति फणिनः (फणा + इनि) सर्पाः तेषाम्। गणाः समूहाः तैः। अधः—निम्नभागे। अधस्तनप्रदेशे इत्यर्थः। **कथंचित्**—केनापि प्रकारेण महता प्रयत्नेनेत्यर्थः। **धृते**—धारण किये गये हुए। धारिते उत्थापिते। धारणार्थकधृधातोः कर्मणि क्त प्रत्यये "धृत" इति तस्य सप्तम्येकवचने "धृते" इति "भुवस्तले" इत्यस्य विशेषणम्। **भुवस्तले**—पृथ्वीतल पर। भूमिपृष्ठे। "भूर्भूमिरचलानन्ता" इत्यमरः। "तल" शब्दः अधस्तनउपरितनद्वयोरपि भागयोः वाचकः। "नभस्तलम्" इत्यत्र अधःप्रदेशवाची "भुवस्तलम्" इत्यत्र च उपरितनप्रदेशवाची। अन्येष्वप्यर्थेष्वस्य प्रयोगः दृश्यते ते चार्थाः—"स्वरूप ज्याघातवारण, (दस्ताना) कानन, कार्यबीज, ताल (ताड़) वृक्ष, चपेट (थप्पड़), त्सरु (तलवार की मूठ), सव्येन पाणिना (वाम हस्तेन) तन्त्री (वीणा) घात (वादन) प्रभृतयः।" एते चार्थाः मेदिनीकोषानुसारेण इष्टाः। अमरसिंहस्तु "अधः स्वरूपयोरस्त्रीतलम्" इत्येवाह। **अभिदेवकीसुतम्**—कृष्ण के सम्मुख। देवकीसुतमभि। भगवन्तं कृष्णम् अभिलक्ष्येत्यर्थः "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" पा० सू० २।१।१४ इत्यनेनाव्ययीभावसमासः। अभिदेवकीसुत + अम् इत्यवस्थायाम् "अव्ययादाप्सुपः" पा० सू० २।४।८२ इत्यनेन अमः लुकि प्राप्ते "नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः" पा० सू० २।४।८३ इत्यनेन अमः "अम्" एवादेशे "अभिदेवकीसुतम् इति। तस्य च देवकीसुतम् अभिलक्ष्य तस्याग्रे इत्यर्थः। **चरणौ**—चरणों को। पादौ। "पदङ्घ्रिचरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। **न्यधायिषाताम्**—रखा। स्थापितौ न्यस्तौ। निपूर्वकात् धाञ् धातोः कर्मणि लुङि प्र० पु० द्विवचने रूपम्॥१३॥

हिन्दी अनुवाद—भगवान् श्री श्रीकृष्ण के उठ खड़े होने पर ब्रह्मपुत्र नारदजी ने प्रयत्नपूर्वक उठायी (किन्तु भाराधिक्यवश) फिर भी नीचे को झुकती फणाओं वाले नागसमूहों द्वारा किसी-किसी प्रकार धारित (ऊपर

उंठाये) पृथ्वीतल पर भगवान् श्री श्रीकृष्ण के सम्मुख अपने चरणों को न्यस्त किया ॥१३॥

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽऽदिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥१४॥

सर्वङ्कषा—तमिति । आदिपूरुषः पुराणपुरुषः । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति वा दीर्घः । सः - कृष्णः । अर्घं पूजामर्हतीत्यर्घ्यः । 'दण्डादिभ्यो यः' तं नारदम् । अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः । अर्घ्यमादिर्यस्यास्तया—अर्घ्यादिकया । 'शषाद्विभाषा' इति विकल्पेन कप्प्रत्ययः । सपर्यया—पूजया 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत्—परिपूजितवान् । णौ चङन्तं कर्तव्यम् । युक्तं चैतदित्यर्थान्तरं न्यस्यति —गृहानिति । मनस ईषिणो मनीषिणः—सन्तः । पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृतां—पुण्यमकृतवताम् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति भूते क्विप् । गृहान्प्रणयादुपैतुमभीप्सवः—प्राप्तुमिच्छवः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः । न भवन्ति । किन्तु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्याः सन्तः पूज्या इत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयः—आदिपूरुषः सः अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत् मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहान् प्रणयात् उपैतुम् अभीप्सवः न भवन्ति ॥१४॥

विवृतिः—**आदिपूरुषः**—पुराण पुरुष । आदिश्चासौ पूरुषः आदिपूरुषः । पुरति अग्रे गच्छति इति पुरुषः । अग्रगमनार्थकपुरधातोः "पुरः कुषन्" उणादि सूत्र ४।७७ इत्यनेन कुषन् प्रत्यये "पुरुष" इति । "अन्येषामपि दृश्यते' पा०सू० ६ । ३। १३७ इति दीर्घत्वे 'पुरुषः' इति रामाश्रमदीक्षितः मल्लिनाथश्चेति । आदिपूरुषः इत्यस्य पुराणपूरुष इत्यर्थः । **सः**—श्री श्रीकृष्णः । **अर्घ्यम्**—पूज्य । अर्घम् पूजाविशेषम् अर्हति इति अर्घ्यः (अर्घ + य) तम् "मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः । **तम्**—नारदम् । **अर्घ्यादिकया**—अर्घ्य इत्यादिक । अर्घ्यमादिः यस्या सा अर्घ्यादिका तया । अर्घार्थं द्रव्यम् (वस्तु सामग्री

इत्यर्थः) अपि अर्घ्यम् उच्यते। "अर्घ्यादिकया" इत्यत्र प्रयुक्तः "अर्घ्य" शब्दः अर्घशब्दात् "पादार्घाभ्यां यत्" पा० सू० ५। ४ ।२४ इत्यनेन यत् प्रत्यये व्युत्पन्नः। आदिग्रहणम् मधुपर्कगव्याद्यर्थमिति वल्लभदेवः। सपर्यया—पूजा से। शब्दस्य पूजया। पूजार्थक सपरधातोः"कण्ड्वादिभ्यो यक् पा०सू० ३। १। २७ इति यक् प्रत्यये"अप्रत्ययात्" पा०सू० ३। ३। १०२ इत्यनेन "अ" प्रत्यये च "सपर्या" इति तस्य तृतीयैकवचने "सपर्यया" इति। साधु—सम्यक्। पर्यपूपुजत्—पूजन किया। पूजितवान्। परिपूर्वकात् णिजन्तपूज् धातोः लुङि प्र० पु० ए० वचने रूपम्। मनीषिणः—विद्वान्। "मनसः ईषिणः मनीषिणः" इति मल्लिनाथः मनीषा बुद्धिः सा विद्यते येषाम् इति प्रशंसायां "व्रीह्यादिभ्यश्च" पा०सू० ५। २। ११६ इत्यनेन इन् प्रत्यये मनीषिन् इति वल्लभदेवः। मनसः ईषा (ईष + अ)गतिः दर्शनं वा मनीषा बुद्धिः "मनस् + ईषा" इतिस्थिते शकन्ध्वादित्वात् 'मनस्' इत्यत्र स्थितस्य "अस्" इत्यस्य पररूपत्वे "मनीषा" इति सा विद्यते येषाम् इति प्राशस्त्येऽर्थे मनीषा शब्दात् पा० सू० ५। २।११६ इत्यनेन इनि प्रत्यये निष्पन्ने मनीषिन् शब्दस्य प्रथमाबहुवचने "मनीषिणः" इति रूपम्। मनीषिणः विद्वांसः। अपुण्य-कृताम् —पुण्य न करने वाले। पुण्यं विहितरीत्यावर्तनम् तत् कृतवन्तः ये ते पुण्यकृतः (पुण्य + कृ + क्विप् + तुक्) न पुण्यकृतः अपुण्यकृतः तेषाम् अविहिताचारवताम् अविनीतानामित्यर्थः। गृहान्—घर को। वेश्मानि। "गृह" शब्दः नपुंसकः किन्तु बहुत्वे पुंल्लिगोऽपि अतएव माघेन अत्रश्लोके द्वितीयाबहुवचने "गृहान्" इति पदं प्रयुक्तम्। प्रणयात्—प्रेमपूर्वक। स्नेहात्। प्रपूर्वकात् णीञ् धातोः अच् प्रत्यये "प्रणय" इति। उपैतुम्—जाने के लिये। गन्तुम्। उपआङ्पूर्वकाच्च इण धातोः तुमुन् प्रत्यये उपैतुम् इति। अभीप्सवः—इच्छुक। प्राप्तुमिच्छवः। अभिपूर्वकाद् आप्लृधातोः इच्छार्थे सन् प्रत्यये "आप्" आकारस्य ईकारादेशे टाप् प्रत्यये च 'अभीप्सा' इति ततः कर्तरि "उ" प्रत्यये "अभीप्सु" इति तस्य प्रथमा ब० वचने "अभीप्सवः" इति। भवन्ति—भूधातोः प्र० पु० ब० वचनरूपम् ॥१४॥

हिन्दी अनुवाद—आदिपुरुष भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने पूजनीय नारदजी

का अर्घ्यादि सामग्री के द्वारा सम्यक् रीति से पूजन किया। विद्वान् जिन लोगों ने पुण्य नहीं किया है अर्थात् जो अविनीत और असभ्य हैं ऐसे लोगों के घर प्रीतिवश जाने के अभिलाषी नहीं होते (किन्तु जो विनीत और सभ्य हैं उन्हीं लोगों के घर जाने के अभिलाषी हैं)॥ १४॥

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥१५॥

सर्वङ्कषा—न यावदिति। उत्थितावेतौ—मुनिकृष्णौ। जनः—तुषाराञ्जनयोः पर्वताविव यावन्नोदपश्यत्—नोत्प्रेक्षितवान्। तावच्चिरन्तनः—पुराणो मुनिः—कृष्णः। 'पुरा किल भगवान्बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात्। 'सायंचिरम्—' इत्यादिना ट्यु प्रत्ययस्तुडागमश्च। स्वहस्तेन दत्ते आसने—मुनिं—नारदमभिन्यवीविशत्—स्वाभिमुखेनोपवेशितवान्। अभिनिपूर्वाद्विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'णिश्रि—' इति चङ्॥ १५॥

अन्वयः—जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावत् न उदपश्यत् तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत्॥ १५॥

विवृतिः—जनः—लोगों ने। लोकः। उत्थितौ—उठे हुए। भूमौ स्थितौ एतौ—नारदकृष्णौ। तुषाराञ्जनपर्वतौ इव—हिम और कज्जल के पर्वत के समान। तुषारश्च अञ्जनञ्च तुषाराञ्जने तयोः पर्वतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ। हिमकज्जलमहीधरौ इव। यावत्—जब तक। यावत्कालम्। न—नैव। उदपश्यत्—कल्पना नहीं की। अतर्कयत् उत्प्रेक्षितवान् उत्पूर्वकात् दृशधातोः लङि प्र० पु० ए० वचने रूपम्। उत्पूर्वकस्य दृश्धातोः उत्प्रेक्षायां प्रयोगः प्रसिद्धः। तावत्—तब तक। तावत्कालम्। चिरन्तनः—प्राचीन। पुराणः। "चिरम्" इति प्राचीनकालवाची अधिक कालवाची च अव्ययशब्दः ततः "भवः" इत्यर्थे सायं चिरं प्रह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च पा० सू० ४। ३। २३ इत्यनेन ट्युट् युल् वाप्रत्यये "यु" इत्यपहाय अनयोः प्रत्यययोः शेषभागस्य लोपे "यु" इत्यस्य "अन" आदेशे तुडागमे च "चिरम्" इत्यत्र स्थितस्य मकारस्य अनुस्वारे परसवर्णे च "चिरन्तन"

इति । मुनिविशेषणतया पुंल्लिगः । मुनिः—कृष्ण । नारायणावतारे कपिलावतारे च भगवानपि विष्णुः तपः अकरोत् अतएव माघेन अत्र पद्ये "मुनिः" इत्युक्तः । स्वहस्तदत्ते—अपने हाथों से दिये हुए । स्वहस्ताभ्यां दत्ते । आसने—आसन पर । विष्टरे । मुनिम्—नारदम् । अभिन्यवीविशत्—बैठाया । आत्मनः सम्मुखे उपवेशयामास । अभिनिपूर्वकाद् णिजन्तात् विश्धातोः लुङ्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—जब तक द्वारकावासी जनों ने "खड़े हुए दोनों हिम और कज्जल के पर्वत के से प्रतीत हो रहे हैं" ऐसी कल्पना नहीं की तब तक (इतने में ही) भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से दिये आसन पर नारद जी को बिठा दिया ॥ १५ ॥

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

सर्वङ्कषा—महामहेति । महत्या महानीलशिलायाः—सिंहलद्वीपसंभवेन्द्रनीलोपलस्य रुगिव रुग्यस्य तस्येत्युपमालङ्कारः । 'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृषः—हरेः । पुरः—अग्रे । उच्चकैः—उन्नते । विष्टरे—आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । निषेदिवान्—उपविष्टवान् 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः । सः—मुनिः । अभिसायं—सायङ्कालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायङ्कालस्य कार्ष्ण्यात्कृष्णोपमानत्वम् । श्रित आश्रित उदयाद्रिरुदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसोऽभिरामतां—शोभामचूचुरत्—चोरितवान्, प्राप्तवानित्यर्थः । चुर स्तेये 'णिश्रि—' इति चङ् । अन्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः । स चोक्तोपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान् सः अभिसायम् श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ॥१६॥

विवृतिः—महामहानीलशिलारुचः—विशाल महानील शिला के समान

प्रभा वाले। महानीला चासौ शिला च महानीलशिला (मल्लिनाथमते सिंहलदेशोद्भव महेन्द्रनीलमणिशिला) महती चासौ महानीलशिला महामहानीलशिला तस्याः रुक् प्रभा इव रुक् यस्य सः महामहानीलशिलारुक् तस्य। कर्मधारयगर्भितबहुव्रीहिसमासः। कंसकृषः—श्रीकृष्ण के। श्रीश्रीकृष्णस्य। कंसं कर्षति इति कंसकृट्। कंसपूर्वकात् विलेखनार्थकात् (आकर्षणार्थकात्) कृषधातोः "क्विपच्" पा० सू० ३।२।७६ इत्यनेन क्विप् प्रत्यये "कंसकृष्" ततः प्रथमा ए० वचने "कंसकृट्" इति षष्ठ्येकवचने "कंसकृषः" इति च। पुरः—अग्रे। उच्चकैः—उन्नते। विष्टरे—आसन पर। आसने। विस्तीर्यते इति विष्टरः विपूर्वकात् आच्छादनार्थकस्तृञ् धातोः "ऋदोरप्" पा० सू० ३। ३। ५७ इत्यनेन अप् प्रत्यये "वृक्षासनयोर्विष्टरः" पा० सू० ८।३।९३ इति स्तृञः सकारस्य षत्वे च निपातिते "विष्टर" इति। "विष्टरो विटपदर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्" इत्यमरः। निषेदिवान्—बैठे हुए। उपविष्टवान्। निपूर्वकात् पद्लृधातोः क्वसु प्रत्यये "निषेदिवस्" इति ततः प्रथमैकवचने "निषेदिवान्" इति। सः—नारदः। अभिसायम् संध्याकाल के सम्मुख। सायंकालमभि। सन्ध्याकालाभिमुखम् इत्यर्थः। अव्ययीभावसमासः। श्रितोदयाद्रेः-उदयाचल पर आरूढ़। श्रितः (श्रिञ् + कर्मणि + क्त) आश्रितः उदयाद्रिः (पुराणमते पृथिव्याः प्राक् भागे कश्चित् पर्वतः तस्मादेव सूर्यस्य चन्द्रस्य च उदयः भवति तस्मादेव तस्य "उदयाद्रि" इति नाम) उदयशैलः येन सः श्रितोदयाद्रिः तस्यः। चन्द्रमसः—चन्द्रमा की। चन्द्रस्य। चन्द्रमस् शब्दस्य षष्ठ्येकवचनरूपम्। अभिरामताम्—शोभा को। शोभाम् अभिरमयति इति अभिरामः (अभि + रम् + णिच् + घञ्) तस्य भावः अभिरामता (अभिराम + तल् + टाप्) ताम्। अचूचुरत्—चुरा लिया। चोरितवानिवेत्यर्थः ॥१६॥

हिन्दी अनुवाद—विशाल महानीलशिला (इन्द्रनील खण्ड) की सी प्रभावाले कंसशत्रु भगवान् श्री श्रीकृष्ण के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठे (कुछ सुनहलापन लिये धवल कान्ति वाले) नारद जी ने (अन्धकार की गाढ़ी नीलिमा से युक्त) सन्ध्या-काल के सम्मुख उदयाचल पर आरूढ़ हुए चन्द्रमा की शोभा चुरा सी ली ॥१६॥

विधाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥१७॥

सर्वङ्कषा—विधायेति । यज्वानो विधिनेष्टवन्तः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोः—' इति यजिधातोङ्वनिप् । तेषां प्रियो हरिः प्रसेदुषः—प्रसन्नस्य । । 'सदेः क्सुः' इत्युक्तम् । तस्य मुनेरपचितिं पूजाम् । 'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विधाय विशेषेण मनोवाक्कायकर्मभिस्तत्परतया कृत्वा । प्रकामम्—अत्यर्थम् । अप्रीयत्—प्रीतोऽभूत् । प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । मुनिपूजायाः प्रीतिहेतुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति—महानुभावाः—महात्मानः । आर्यापूज्यान्परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुं—वशीकतुंम् । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इतिटो दीर्घः । नितान्तमर्थिनः—अभिलाषवन्तो हि भवन्ति । अर्थमर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थ इनिर्न तु णिनिः । 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्वलीयसी' ति न्यायात् ॥१७॥

अन्वयः—यज्वनां प्रियः प्रसेदुषः तस्य अपचितिं विधाय प्रकामम् अप्रीयत । हि महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुं नितान्तम् अर्थिनः ॥१७॥

विवृतिः—यज्वनां प्रियः—विधिवत्यज्ञ करने वालों के प्रिय ।विधिना इष्टवन्तः यज्वानः (यज् + ङ्वनिप्) तेषाम् प्रियः (प्री + क) अभीष्टः श्री श्रीकृष्णः । प्रसेदुषः—प्रसन्न। प्रसन्नस्य । प्रपूर्वकात् षद्लृधातोः क्वसु प्रत्यये "प्रसेदिवस्" इति । तस्य षष्ठ्येकवचने "प्रसेदुषः" इति । तस्य—मुनेः नारदस्य ।अपचितिम्—पूजा को। पूजाम् । अपपूर्वकात् पूजार्थकात् चायृधातोः भावे क्तिन् प्रत्यये "चायते क्तिनि चिभावोवाच्यः" वा० ३।३।९४ इत्यनेन "चाय" इत्यस्य "चि आदेशे "अपचितिः इति तस्य द्वितीयैकवंचनरूपम् । "पूजानमस्याऽपचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः" इत्यमरः । विधाय—करके । कृत्वा । विपूर्वकात् धाञ् धातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च "ल्यप्"आदेशे "विधाय" इति । विपूर्वकस्य धाञ् विधिविधानानुष्ठानादिषु अर्थेषु प्रयोगः । प्रकामम् अत्यधिक । नितराम्अत्यर्थम् । "अप्रीयत"इति क्रियायाः विशेषणम् ।

प्रभूतम्, प्राज्यम्, अदभ्रम्, निकामम् भूरि प्रभृतयः शब्दा पर्याप्तपर्यायवाचिनः। अप्रीयत—प्रसन्न हुए। प्रीतोऽभवत्। तर्पणार्थक प्रीञ् धातोः कर्तरिलङ्-लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। महानुभावाः—महात्मानः। महान् अनुभावः अस्ति येषां ते महानुभावाः। भवनम्भावः (भू + घञ्) अनुगतोभावः इति विग्रहे "प्रादयोगताद्यर्थे" पा० २। २। १८ इत्यनेन गति समासे "अनुभावः" "अनुभावःप्रभावे च सतां च मतिनिश्चये" इत्यमरः "अनुभावःप्रभावे स्यान्निश्चयेभावसूचके" इति च विश्वः। आर्यान्—पूज्य लोगों को। पूज्यान् अर्यन्ते प्राप्यन्ते इति आर्याः (ऋ + ण्यत्) सभ्याः तान्। "महाकुलकुलीनार्य सभ्य सज्जन साधवः" इत्यमरः। परिचर्यया—सेवा से। सेवया। परिचरणम् इतिभावे परिपूर्वकात् चर्धातोः "परिचर्या परिसर्यामृग पा०" ३। ३ १०१ इतिवार्तिकेन शप्रत्ययः "यक्" आगमश्च निपात्यते ततः टाप् प्रत्यये च "परिचर्या" इति। तृतीयैकवचनम्। "परिचर्याप्युपासना" इत्यमरः। मुहुः—पुनः पुनः। मुहुस् इति पौनःपुन्यवाची अव्ययशब्दः। ग्रहीतुम्—ग्रहण करने के लिये (अपने वश में करने के लिये)। आदातुम् आत्मनः वशमानेतुम्। ग्रहणार्थक ग्रहधातोः तुमुन् प्रत्यये इडागमे तस्यच "ग्रहो लिटि दीर्घः" पा० सू० ७।२।३७ इत्यनेन दीर्घे "ग्रहीतुम्" इति। नितान्तम्—अत्यन्त। अत्यन्तम्। क्रियाविशेषणम् अव्ययशब्दः। अर्थिनः—अभिलाषी। अभिलाषिणः। अर्थः अस्ति येषां ते अर्थिनः (अर्थ + इनि)। "अर्थनमर्थोऽभिलाषः" इति मल्लिनाथः। अर्थोऽभिधेयरै (धन) वस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरश्च। "भवन्ति" इतिच प्रसंगलब्धोऽर्थः ॥१७॥

हिन्दी अनुवाद—विधिपूर्वक यजन करने वालों के प्रिय भगवान् श्री श्रीकृष्ण जी प्रसन्नमनस्क नारद जी की पूजा करके अत्यन्त तृप्त हुए। महानुभाव सेवा के द्वारा पूज्यजनों को अपने वश में करने के लिये अत्यन्त इच्छुक होते हैं ॥१७॥

अशेषतीर्थोपहृता कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥१८॥

सर्वङ्कषा—अशेषेति। अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृताः—आहृताः, तथा पाणौ निधाय कमण्डलोः—उदकपात्रादुद्धृत्य पाणौ निधायेत्यर्थः। क्रियान्तराक्षिप्तक्रियापेक्षया कमण्डलोरपादानत्वम्। "अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी" इत्यमरः। ऋषिणाभ्युदीरिताः—आक्षिप्ताः। अत एवाघौघानां—पापसमूहानां। विध्वंसविधौ—विनाशकरणे। पटीयसीः—समर्थतराः। पटुशब्दादीयसुनि 'उतश्च' इति ङीप्। अपः जलानि। हरिर्नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् स्वीकृतवान्। ग्रहेर्लुङ्॥१८॥

अन्वयः—अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः पाणौ निधाय ऋषिणा अभ्युदीरिताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः हरिः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत्॥१८॥

विवृतिः—अशेषतीर्थोपहृताः—समस्त तीर्थों से लाए हुए। शिष्यन्ते इति शेषानि (शिष्लृ + घञ्) न शेषानि अशेषानि तीर्यन्ते इति तीर्थानि (तॄ + थक् औणादिक) "निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ" इत्यमरः। अशेषानि च तानि तीर्थानि अशेषतीर्थानि तेभ्यः उपहृताः आनीताः अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः—कमण्डलु से, कमण्डलुनामकजलपात्रात्। कमण्डलुशब्दस्य पञ्चमीविभक्तेः ए० वचनेरूपम्। "अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी" इत्यमरः पाणौ—हाथ में। हस्ते (दक्षिणहस्ते)। निधाय—रखकर। स्थापयित्वा। निपूर्वकात् धाञ् धातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च ल्यबादेशे "निधाय" इति। ऋषिणा—ऋषति जानाति इति ऋषिः देशकालावस्थाव्यवहितविषयकज्ञानवान् इत्यर्थः तेन। अभ्युदीरिताः—छिड़के हुए। आक्षिप्ताः। अभि उद् पूर्वकात् ईर् धातो क्तप्रत्यये इडागमे टाप् प्रत्यये च "अभ्युदीरिता" इति ततः प्रथमा ब० वचने द्वितीया ब० वचने "अभ्युदीरिताः" इति प्रकृते च द्वि० ब० वचनरूपम्। अतएव अघौघविध्वंसविधौपटीयसी—पाप के समूहों के नष्ट करने की विधि में अत्यन्त पटु। अघानां पापानाम् ओघाः समूहाः अघौघाः तेषां विध्वंसः तस्य विधिः (वि + धा + कि) प्रक्रिया तस्मिन्। पटीयसीः—अतिशयेन पट्व्यः पटीयस्यः (पटु + ईयसुन् + ङीप्) ताः। पटयसीशब्दस्य द्वि०

विभक्तेः व० वचनरूपम् । अपः—जल को । जलानि । "आपः स्त्री भूम्नि-वार्वारि" इत्यमरः । हरिः—श्री श्रीकृष्णः । नतेन—नम्रीभूत। नम्रीभूतेन। णम् धातोः क्तप्रत्ययः । मूर्ध्ना—मस्तकेन शिरसा इत्यर्थ। "मूर्धानामस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । अग्रहीत् — ग्रहण किया । स्वीकृतवान् । ग्रहणार्थक ग्रहधातोः लुङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—सम्पूर्ण तीर्थस्थानों से ले आये हुए, कमण्डलु से (उड़ेलकर) हाथ में रखकर के, नारदजी द्वारा छिड़के हुए, पापों को विध्वस्त करने में अत्यन्त समर्थ जल को भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने नतमस्तक होकर स्वीकार किया ॥१८॥

स काञ्चने यत्र मुनेनुरज्ञया नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुश्रृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥१९॥

सर्वङ्कषा—स काञ्चनेती । नवाम्बुदश्यामतनुः स हरिर्मुनेरनुज्ञया काञ्चने—काञ्चनविकारे ।वैकारिकोऽण्प्रत्ययः। यत्र—आसने न्यविक्षत—उपविष्टवान् । निपूर्वविशो लुङि 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदे 'शल इगुपधादनिटः क्सः' । तत्—आसनं तदा हर्युपवेशनसमये, जम्बूः—नीलफलविशेषः । 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । तया जनिता श्रीर्यस्य तत्तथोक्तस्य । भाषितपुंस्कत्वात्पक्षे पुंवद्भावान्नुमभावः । सुमेरुश्रृङ्गस्य श्रियं जिगाय । अभिभावितवानित्यर्थः । 'संलिटोर्जेः' इति कुत्वम् । उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥१९॥

अन्वयः—नवाम्बुदश्यामतनुः सः मुनेः अनुज्ञया काञ्चने यत्र न्यविक्षत् तत् आसनम् तदा जम्बूजनितश्रियः सुमेरुश्रृङ्गस्य श्रियम् जिगाय ॥१९॥

विवृतिः=नवाम्बुदश्यामतनुः—नवीन मेघ के समान श्याम शरीर वाले । अम्बु ददाति इति अम्बुदः (अम्बु + दा + क) मेघः नवश्चासौ अम्बुदः नवाम्बुदः स इव श्यामः तनुः यस्य सः । नवीनमेघ इव श्यामशरीरः । मुनेः—नारदस्य । अनुज्ञया—आज्ञा से । आज्ञया । अनुपूर्वक ज्ञाधातोः अङ् प्रत्यये टाप् प्रत्यये च "अनुज्ञा" इति तस्य तृतीयैकवचनरूपम् । यत्र—जिस ।

यस्मिन काञ्चने—सुवर्ण के आसन पर। सुवर्णमये। कञ्चनस्य विकारः काञ्चनम् (काञ्चन + अण्) तस्मिन्। न्यविक्षत्—बैठे। उपविष्टवान्। नि-पूर्वक विश् धातोः लुङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। तत् आसनम्—तत् पीठम्। आस् धातोः आस्यतेऽत्र इत्यधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः "पीठमासनम्" इत्यमरः। तदा—श्री श्रीकृष्णोपवेशनकाले। जम्बूजनितश्रियः—जम्बू-फलों से बढ़ायी गयी हुई शोभा वाले। जम्बूभिः जनिता उत्पादिता श्रीः शोभा यस्य तस्य। सुमेरुश्रृङ्गस्य—सुमेरु के शिखर की। सुमेरोः श्रृङ्गं सुमेरुश्रृङ्गं तस्य। श्रियम्—सौंदर्य को। शोभाम्। जिगाय—जीत लिया। जितवान्। जिधातोः लिटि प्र० पु० ए० वचने रूपम्।

हिन्दी अनुवाद—नवीन मेघ के से श्याम शरीर वाले भगवान् श्री श्रीकृष्ण देवमुनि नारद जी की आज्ञा से जिस सुवर्णमय आसन पर बैठे उस समय उस आसन ने जम्बूफल के द्वारा जिसकी शोभा बढ़ायी गयी है ऐसे सुमेरु शृंग की शोभा को जीत सा लिया ॥१९॥

स तप्तकार्त्तस्वरभास्वराऽम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥२०॥

सर्वङ्कषा—स तप्तेति। तप्तं पुटपाकशोधितं कार्तस्वरं—सुवर्णम्। "रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। तद्वद्भास्वरं—दीप्यमानमम्बरं यस्य सः। पीताम्बर इत्यर्थः। कठोरताराधिपस्य पूर्णेन्दो-र्लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। सः हरिर्वाडवजातवेदसः—वाडवाग्नेः—शिखाभिः—ज्वालाभिराश्लिष्टो व्याप्तोऽम्भसां निधिरिव—समुद्र इव विदिद्युते—बभौ ॥२०॥

अन्वयः—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः सः वाडवजातवेदसः शिखाभिः आश्लिष्टः अम्भसां निधिः इव विदिद्युते।

विवृतिः—**तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः**—शोधित सुवर्ण के समान देदीप्यमान् वस्त्र (पीताम्बर) धारण किये हुए। तप्तं शोधितं च तत् कार्तस्वरं सुवर्णं तप्तकार्तस्वरं तद्वत् भास्वरं (भास + वरच्) दीप्तिमत् अम्बरं वस्त्रं यस्य सः।

पीताम्बरः इत्यर्थः । **कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः**—पूर्ण चन्द्रमा के लाञ्छन की सी कान्तिवाले । अधिपाति इति अधिपः (अधि + पा + क) स्वामी ताराणाम् अधिपः ताराधिपः चन्द्रः कठोरश्चासौ (पूर्णः इत्यर्थः) ताराधिपः कठोरताराधिपः, पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य लाञ्छनं चिह्नं कठोरताराधिपलाञ्छनम् तस्य छविः इव छविः आभा यस्य सः । सः—श्री श्रीकृष्णः । **वाडवजातवेदसः**—वाडवाग्नि की । समुद्र में स्थित अग्नि का नाम वाडव है । "जातं वेदं धनं यस्मात्" "जाते जाते विद्यते" जातं वेत्ति वेदयते वेति त्रयः विग्रहाः "जातवेदस्" इत्यस्य प्रथमविग्रहे "जात + लाभार्थक विद्लृ औणादिक असुन्" द्वितीयविग्रहे "जात + सत्तार्थक विद् + असुन्" तृतीयविग्रहे "जातं वेत्ति इति पक्षे" जात + ज्ञानार्थक विद् + असुन् "वेदयते इति पक्षे च जात + ज्ञानार्थक विद् + णिच् + असुन्" इति च प्रकृति-प्रत्ययविभागः । जनि धातोः क्तप्रत्यये अनुनासिक (नकार) लोपे जकारे स्थितस्य अकारस्य आत्वे जात इति । अस्य च प्रथम विग्रहे उत्पन्नम् द्वितीय-विग्रहे "चेतने" तृतीय विग्रहे "अशेषम्" इत्यर्थः । "जातवेदाः" इति अग्नेः नाम । वाडवश्चासौ जातवेदाः वाडवजातवेदाः (पुराणमतेन समुद्रस्थितोऽग्निः वाडवः और्वः इति च उच्यते) तस्य । "वाडवजातवेदसः" इति वाडवजातवेदस् शब्दस्य षष्ठ्येकवचनरूपम् । **शिखाभिः**—ज्वालाओं से । ज्वालाभिः । **आश्लिष्टः**—आलिंगित (व्याप्त) । आलिंगितः व्याप्त इति प्रासंगिकोऽर्थः । आङ् पूर्वकात् श्लेषार्थक श्लिष् धातोः क्त प्रत्यये "आश्लिष्ट" इति । "श्लेष" इत्यस्य "संयोग" इत्यर्थः । **अम्भसां निधिः**—समुद्र । समुद्रः । "अम्भस्" इति जलानाम् नपुंसकलिङ्गः शब्दोऽयम् अम्भसाम् इत्यस्य जलानाम् इत्यर्थः । निधीयते इति निधिः (नि + धा + कि) "कोश" इत्यर्थः । इव । **विदिद्युते**:—शोभायमान हुए । बभौ ॥२०॥

हिन्दी अनुवाद—शोधित सुवर्ण की तरह दीप्तियुक्त वस्त्र (पीताम्बर) धारण किये पूर्ण चन्द्र के लाञ्छन की सी कान्ति वाले वे भगवान् श्री श्रीकृष्ण (उस समय) वाडवाग्नि की शिखाओं (ज्वालाओं) से व्याप्त समुद्र की तरह शोभित हुए ॥२०॥

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥२१॥

सर्वङ्कषा—रथाङ्गपाणेरिति। रथाङ्ग—चक्रं पाणौ यस्य तस्य—हरेः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणेः परनिपातः। रोचिषां—छवीनां, पटलेन—समूहेन, 'संवलिताः—मिलिता ऋषित्विषो, नक्तं—रात्रौ। सप्तम्यर्थेऽव्ययम्। तरोश्चलतां पलाशानां पत्राणामन्तराणि—विवराणि—गोचरः—आश्रयो येषां ते। तुषार मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोः—अंशव इव विरेजिरे—चकाशिरे ॥२१॥

अन्वयः—रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिताः ऋषित्विषः नक्तं तरोः चालत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशव इव विरेजिरे।

विवृतिः—रथाङ्गपाणेः—श्रीकृष्ण के। रथस्य अङ्गं रथाङ्गं चक्रं पाणौ हस्ते यस्य सः रथाङ्गपाणिः तस्य रथाङ्गपाणेः। **रोचिषां पटलेन**—कान्ति पुञ्ज से। किरणानां समूहेन। "रोचिः" इति किरणनाम्। "रोचिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशद्योत आतपः" इत्यमरः। "पटलं तिलके नेत्ररोगे छदिषि संचये (समूहे)। "पिटके परिवारे च" इति हैमः। **संवलिताः**—सम्मिलित। संयुक्ताः सम्मिलिताः इत्यर्थः। सम्पूर्वकात् संचरणार्थकवल-धातोः क्त प्रत्यये इडागमे टाप् प्रत्ययेय च "संवलिता" इति तस्य प्रथमा ब० वचनरूपम्। **ऋषित्विषः**—ऋषि (नारद) की कान्ति। नारदशरीरद्युतयः। ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः। **तरोः**—वृक्षस्य। रात्रौ। "नक्तम्" इति रात्रि-नाम अव्ययशब्दोऽयम्। सप्तम्यर्थेऽस्य प्रयोगः। **तरोः**—वृक्षस्य। **चलत्पला-शान्तरगोचराः**—हिलते हुए पत्तों के भीतर दिखाई पड़ने वाली। चलन्तः वायुस्पर्शवशात् स्पन्दमानाः ये पलाशाः (पत्राणि) तेषाम् अन्तराणि अन्तः प्रदेशाः गोचराः प्रसारस्थानानि येषां ते। **तुषारमूर्तेः**—चन्द्रमा की। चन्द्रस्य। "तुषारा शीतलामूर्तिः यस्य सः" इति वल्लभदेवः। "तुषारामूर्तिः यस्य तस्य" इतिमल्लिनाथः। उभयत्र बहुव्रीहिः। "तुषारमयीमूर्तिः। यस्य सः तस्य" इति चन्द्रप्रभा विवृतिकारः। **अंशवः**—किरणों की तरह। किरणाः।

इव । विरेजिरे—सुशोभित हुई । चकाशिरे । विपूर्वकात् दीप्त्यर्थकात् राजृधातोः, लिट्लकारे प्र० पु० ब० वचने रूपम् ॥२१॥

हिन्दी अनुवाद—भगवान् श्री श्रीकृष्ण के प्रभासमूह से मिलित महर्षि-नारद की किरणें रात्रि के समय वृक्ष के हिलते डुलते पत्तों के बीच के भाग प्रसार के स्थान हैं जिनकी, ऐसी चन्द्रकिरणों की सी सुशोभित हुईं ॥२१॥

विशदार्थ—चाँदनी रात में जब कि वायु के झोंकों से वृक्षों के पत्ते हिलते-डुलते होते हैं तब उन पत्तों की विरलता के कारण उनके बीच-बीच में जो खुला भाग बन जाता है उनसे होकर पत्तों के सघन भाग की नीलिम छाया के बीच-बीच में पड़ने वाली चन्द्रकिरणें जैसी प्रतीत होती हैं, भगवान् श्री श्रीकृष्ण के शरीर की नीलिम आभा से मिलित महर्षि नारद के शरीर की आभा भी वैसी ही प्रतीत हुई ॥२१॥

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरिताऽमलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥२२॥

सर्वङ्कषा—प्रफुल्लेति। प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं—विकसितम्। 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यजन्तम् । फलेर्निष्ठायाम् 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्प्रफुल्लमित्येवेति क्षीरस्वामी । तापिच्छस्य तमालस्य —पुष्पंतापिच्छम् । 'फले लुक्' इति तद्धितलुक् । 'द्विहीनं प्रसवे सर्वम्' इति नपुंसकत्वम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । तेन सदृशैः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अतएव 'स्युरुत्तरपदेत्वमी' इति, "निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" इत्यमरः । सप्तच्छदाः पर्णानि पर्वसु यस्येति सप्तच्छदो वृक्षभेदः । "सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः" इत्यमरः । शङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये । शेषं तापिच्छवत् । तस्य पुष्पाणि—सप्तच्छदानि, तेषां पांसुवत्पाण्डुभिः—शुभ्रैः, अभीषुभिः—अन्योन्यरश्मिभिः । "अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ" इति शाश्वतः । परस्परेण छुरिते—रूषिते-अमले छवी-अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ । छव्योरभीषूणामवयवावयविभावाद्भेदनिर्देशः

तौ—हरिनारदौ, तदैकवर्णाविव बभूवतुः। उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णःप्रादुर्बभूत्र तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा ॥२२॥

अन्वयः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः; परस्परेणच्छुरितामलच्छवी तौ तदा एकवर्णौ इव बभूवतुः।

विवृतिः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः—फूले हुए तमाल के पुष्पों के सदृश। प्रफुल्लतीति प्रफुल्ल (प्र+फुल्ल+अच्) विकसितम् तच्च तत् तापिच्छम् प्रफुल्लतापिच्छम् उन्मीलिततमालपुष्पमित्यर्थः तेन निभाः सदृशाः तैः। सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः—सप्तच्छद (छितौन) के फूलों के पराग के समान शुभ्र। सप्तच्छदाः पत्राणि पर्वसु यस्य सः सप्तच्छदः "लोके छितौन" इति नाम्ना प्रसिद्धः वृक्षविशेषः। "सप्तच्छदो विशाल त्वक् शारदो विषमच्छदः" इत्यमरः। तस्य पुष्पाणि सप्तच्छदानि तेषां पांसुवत् परागवत् पाण्डवः ईषत्पीतश्वेताः तैः। अभीषुभिः—किरणों से। मयूखैः। "अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ" इत्यमरः। परस्परेण—एक दूसरे की। अन्योऽन्यम्। छुरिताम-लच्छवीः—मिश्रित निर्मल कान्ति वाले। छुरिते मिश्रिते अमले निर्मले छवी अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ। तौ—कृष्णनारदौ। तदा—तस्मिन् काले। एकवर्णौ—एक वर्ण वाले। तुल्यकान्ती। एकः अभिन्नः वर्णः ययोः तौ। इवेत्युत्प्रेक्षा। बभूवतुः—हो गये। अभूताम्। भूधातोः लिट् लकारे प्र० पु० द्विवचने रूपम् ॥२२॥

हिन्दी अनुवाद :—खिले हुए तमाल के पुष्पों के सदृश (नील-नील) तथा सप्तच्छद (छितौन) के पुष्पों के पराग के सदृश कुछ पीलापन लिये उज्वल-उज्ज्वल शुभ्र आभा से आपस की मिलित आभा वाले वेदोनों (भगवान् श्री श्रीकृष्ण तथा नारद) उस समय एक रंग के-से सुशोभित हुए ॥२२॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥२३॥

सर्वङ्कषा—युगान्तेति। युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मनः—आत्मन्यु-

पसंहृता आत्मानो जीवा येन तस्य, **कैटभद्विषः**—हरेर्यस्यां तनौ जगन्ति **सविकासं**—सविस्तरमासत—अतिष्ठन्। 'आस उपवेशने' लङ्। **तत्र**—**तनौ**—देहे, तपोधनाभ्यागमेन सम्भवन्तीति **सम्भवाः**—सम्भूताः। पचाद्यच्। **मुदः**—सन्तोषा न ममुः। अतिरिच्यन्ते स्मेत्यर्थः। चतुर्दशभुवनभरणपर्याप्ते वपुषि अन्तर्न मान्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेन स्वतःसिद्धस्याभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः, सा च मुदामन्तः संबंधेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा ॥ २३ ॥

अन्वयः—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकाशम् आसत तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवाः मुदः न ममुः।

विवृतिः—**युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः**—प्रलय काल में समस्त जीवों को अपने आप में लीन कर लेने वाले। अन्तश्चासौ कालः अन्तकालः युगानाम् "कृतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग" इति चतुर्भिः नामभिः प्रसिद्धानां महाकालविभागानाम् अन्तकालः प्रलय इत्यर्थः युगान्तकालः तत्र प्रतिसंहृता (सम् + हृ + क्त) आत्मनि अन्तर्धापिताः आत्मानः जीवाः येन सः युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मा तस्य। **कैटभद्विषः**—कैटभ के शत्रु (श्रीकृष्ण) की। कृष्णस्य। कैटभम् एतन्नामकम् असुरं द्वेष्टि इति कैटभद्विट् (कैटभ + द्विष् + क्विप्) तस्य उपपदसमासः। **यस्यां तनौ**—जिस शरीर मे। यस्मिन् शरीरे। "कायो देहः क्लीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनू" इत्यमरः। **जगन्ति**—भुवन। भुवनानि। "विष्टपं भुवनं जगत्" इत्यमरः। "जगत्" शब्दस्य प्रथमा ब० वचनरूपम्। **सविकासम्**—विस्तारपूर्वक। सविस्तरम्। विकासेन (वि + कस् + घञ्) सह यथा स्यात् तथा। **आसत**—स्थित हो गये थे। अतिष्ठत्। उपवेशनार्थकात् आस् धातोः लङ् लकारे प्र० पु० ब० वचने रूपम्। **तत्र**—तस्यामेव तनौ। **तपोधनाभ्यागमसम्भवाः**—नारद के आगमन से उत्पन्न। नारदागमनसम्भूताः। तपः एव धनं यस्य सः तपोधनः तस्य अभ्यागमः आगमनम् तेन सम्भवः उत्पत्तिः यासां ताः। **मुदः**—हर्ष। हर्षाः। हर्षार्थक मुद्धातोः "संपदादिभ्यः क्विप्" (वा० ३।३। ९४) इत्यनेन क्विप्। "मुत्प्रीतिः

प्रमदो हर्ष प्रमोदामोदसंमदाः" इत्यमरः । न—नैव । ममुः—नहीं समा रहा था । अमासिपुः ॥ २३ ॥

हिन्दी अनुवाद—प्रलयकाल में सारे जीवों को अपने-आप में लीन कर लेने वाले कैटभशत्रु भगवान् श्री श्रीकृष्ण के जिस शरीर में विस्तारयुक्त सारे-के-सारे ब्रह्माण्ड समाविष्ट हो गये थे उनके उसी शरीर में महर्षि नारद के आगमन से उत्पन्न हर्ष नहीं समा रहा था ॥ २३ ॥

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥२४॥

सर्वङ्कषा—निदाघेति । निदाघमुष्णं धाम किरणो यस्य तं तथोक्तम् । 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः । अर्कमिव—अधिदीधितिम्—अधिकतेजसं, मुनिमभिलक्ष्य । 'अभिरभागे' इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञां । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' । मुदा विकासमुपेयुषी—उपगते । क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । अत एवाधिश्रिता प्राप्ता श्रीर्याभ्यां ते तथोक्ते । 'इकोऽचिविभक्तौ' इति नुगागमः । विलोचने बिभ्रत् । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । सः—हरिः, पुण्डरीकाक्ष इत्येवं स्फुटोऽभवत् । सूर्यसंनिधाने श्रीविकासभावादक्ष्णां पुण्डरीकसाधर्म्यात् । पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्येत्यवयवार्थलाभे पुण्डरीकाक्ष इति व्यक्तम्—अन्वर्थसंज्ञोऽभूदित्यर्थः । बिभ्रत्स्फुटोऽभवदिति पदार्थहेतुकस्य काव्यलिंगस्य निदाघधामानमिवेत्युपमासापेक्षत्वादनयोरङ्गभावेन सङ्करः ॥ २४ ॥

अन्वयः— निदाघधामानम् इव अधिदीधितिं मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् सः पुण्डरीकाक्षः इति स्फुटः अभवत् ।

विवृतिः—निदाघधामानम्—उष्ण किरणों वाले अर्थात् सूर्य के समान । निदाघम् उष्णं धाम प्रकाशः यस्य सः निदाघधामा तम् । "निदाघ उष्मोपगमः उष्ण उष्मागमस्तपः" इत्यमरः । अधिदीधितिम्—अधिक तेजस्वी । "अधिका

दीधितिर्यस्य सः तम्" 'अधिगता दीधितिर्येन सः तम्" वेति वल्लभदेवः। "अधिका दीधितिर्यस्य सः तम्" इत्येव मल्लिनाथः"अधिदीधितिम्" इत्यस्य अधिकतेजसम् इत्यर्थस्य तस्य अभिमतत्वात्। "दीधितिः" इति किरणनाम दीप्त्यर्थक दीधिङ् धातोः कर्तरि क्तिच् प्रत्ययः। स्त्रियां पुंसि च उभयत्र अस्य प्रयोगः। "मुनीम्" इत्यस्य विशेषणम्। **मुनिम् अभि**—नारद के सम्मुख। नारदसंमुखम्। "अभिरभागे" पा० सू० १।४।९१ इत्यनेन लक्षणेऽर्थे "अभि" इत्यस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ततः "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" पा० सू० २। ३। ८ इत्यनेन तस्य योगे "मुनि" इत्यत्र द्वितीया। **मुदा**- प्रसन्नता से। हर्षेण। **विकासम्**—प्रसार को। प्रसारम्। **उपेयुषीः** प्राप्त। प्राप्ते। उपपूर्वकात् गत्यर्थकात् इणधातोः "छन्दसि लिट्" पा० सू० ३। २। १०५ इत्यनेन लिट्लकारे तस्य च "क्वसुश्च" पा० सू० ३।२। १०५ इत्यनेन क्वसुप्रत्यये निष्पन्ने "उपेयिवस्" शब्दात् नपुंसके द्वितीया द्विवचने रूपम्। वेदे एव एतादृश क्वसुप्रत्ययान्तशब्दप्रयोगस्य औचित्ये कवीनां स्वातन्त्र्यात् वेदाद् बहिः काव्येऽपि प्रयोगः। **अधिश्रितश्रिणी**— शोभा को प्राप्त करने वाले। अधिश्रिता लब्धा श्रीः शोभा याभ्यां ते। बहुव्रीहिसमासः। "विलोचने" इत्यस्य विशेषणम्। **विलोचने**—नेत्रों को। नयने। "लोचनं नयनं नेत्रम्" इत्यमरः। **विभ्रत्**—धारण करते हुए। धारयन्। धारणार्थक भृञ् धातोः शतृप्रत्ययः। **सः**—श्री श्रीकृष्णः। **पुण्डरीकाक्षः**—श्वेत कमल के समान नेत्र वाले। पुण्डरीके श्वेतकमले इव अक्षिणी नेत्रे यस्य सः "पुण्डरीके सिताम्भोजम्" इत्यमरः। पुण्डरीकाक्ष इति नामा। **स्फुटः**—स्पष्टः। यथार्थनामा इत्यर्थः। **अभवत्**—हो गए। बभूव। भूधातोः लङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥२४॥

हिन्दी अनुवाद—भगवान् सूर्य के समान अत्यन्त दीप्तिशाली महर्षि नारद के सम्मुख (उनके दर्शन के कारण) उत्फुल्ल नेत्रों को धारण करते हुए श्री श्रीकृष्ण यथार्थ में "पुण्डरीकाक्ष" हो गये ॥२४॥

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाऽथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥२५॥

सर्वङ्कषा--सितमिति । अथ—उभयोरुपवेशनान्तरम् । अच्युतो हेतु-कर्ता । विसारिभिः—अभीक्ष्णं प्रसरद्भिः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । द्विजावलिः—दन्तपङ्क्तिः । "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" इत्यमरः । सैव व्याजः—कपट यस्य सः । तद्रूप इत्यर्थः । स चासौ निशाकरश्च तस्य अंशुभिः—किरणैः, सितं—स्वभावशुभ्रं मुनेर्वपुः सौधं—प्रासादमिव सुत-राम्—अत्यन्तम् । अव्ययाद्धादाम्प्रत्ययः । सितिम्ना—धवल्येन प्रयोज्य-कर्त्रा, लम्भयन्—व्यापारयन् । अतिधवलयन्नित्यर्थः । लभेरत्र गत्युपसर्जन-प्राप्त्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि—'इत्यादिना अणिकर्तुर्न कर्मत्वम् । तथाह वामनः 'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकमत्वे' इति । प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वे तु कर्मत्वमेवेति रहस्यम् । 'लभेश्च' इति नुमागमः । शुचिस्मितां वाचमवो-चत्—उक्तवान् ब्रुवो वच्यादेशः । लुङ् 'वच उम्' इत्युमागमे गुणः । अत्र सौधमिवेत्युपमायाः सितिम्ना लम्भयन्नित्यसम्बन्धरूपातिशयोक्ते द्विजावलि-व्याजनिशाकरेति छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपाऽपह्नवस्य च मिथो नैरपेक्ष्यात्संसृष्टिः ॥२५॥

अन्वय—अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिःसितं मुनेः वपुः सौधमिव सुतरां सितिम्ना लम्भयन् शुचिस्मितां वाचम् अवोचत् ।

विवृतिः—अथ—द्वयोः उपवेशनानन्तरम् । अच्युतः—श्री श्रीकृष्णः । विसारिभिः—प्रसारशील (फैलते वाले) । विष्वक् सर्वतः सरितुं प्रसरितुं शीलम् येषां ते विसारिणः (वि + सृ + णिनि) तैः । द्विजावलिव्याजनिशा-करांशुभिः - दन्तपङ्क्तिरूपी चन्द्रमा की किरणों से । द्विर्जायन्ते उत्पद्यन्ते द्विजाः दन्तविप्रपक्षिणः इह तु दन्ताः तेषाम् आवलिः पङ्क्तिः सा एव व्याजः कपटं (कपटरूपम्) यस्य सः द्विजावलिव्याजः स चासौ निशाकरः (निशा + कृ + ट) तस्य अंशवः किरणाः तैः । सितम्—धवल । धवलम् । मुनेः—नारदस्य । मुनिशब्दस्य षष्ठ्येकवचनरूपम् । वपुः—शरीरम् । सौधमिव—राजमहल की तरह । राजप्रासादमिव । "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः । सुतराम्—अत्यन्त । अत्यन्तम् । सितिम्ना—सफेदी से । धवलिम्ना "सितस्य

भावः" इत्यर्थे सितशब्दात् "वर्णदृढादिभ्यः" पा० सू० ५। १। १२३ इत्यनेन इमनिच् प्रत्यये"सितिमन्" इतिततःतृतीयैकवचने रूपमिदम् । लम्भयन्—प्राप्त कराते हुए। सितिमा लभते तम् अच्युतः प्रेरयति इत्यर्थे लाभार्थकात् णिजन्तात् लभ् धातोः शतृ प्रत्यये "लम्भयन्" इति रूपम् । तस्य च "प्रापयन्" इति वल्लभदेवः "व्यापारयन्" इति च मल्लिनाथः अर्थमकरोत्।शुचिस्मिताम्—दोष मुक्त और मन्दहास्ययुक्त । शुचि ईषत् स्मितं हसितं यस्यां सा शुचिस्मिता ताम्। वाचम्—वाणीम्। "वाक्"इति वचनपर्यायवाची शब्दः नामाऽपिच सरस्वत्याः प्रकृते वचनपर्यायवाची । वाक्शब्दस्य द्वितीयैकवचने "वाचम्" इति । अवोचत् कहा । उक्तवान् । व्यक्तवचनार्थकात् ब्रूञ् धातोः लुङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् । लिट् लृट, लुङ् लृङ् प्रभृतिषु लकारेषु "ब्रू" इत्यस्य" वचि" आदेशः लुङ् लकारे "उम्" आगमः अपि ॥२५॥

हिन्दी अनुवाद :—भगवान् श्री श्रीकृष्ण ने अपने प्रसारशील दन्त पङ्क्तिरूपी चन्द्रमा की किरणों से नारद जी के धवल शरीर को राज-प्रासाद (जो कि चूने की पुताई के कारण अपने-आप भी धवल-धवल होता है) की तरह और भी अधिक धवलिमा को प्राप्त कराते हुए उनसे स्मित-पूर्वक वचन कहा ॥२५॥

नोट—स्मित और अट्ट हँसी के दो भेद हैं। ईषद्हास (मुसुकान) स्मित और उन्मुक्तहास (ठहाका मार कर हँसना) अट्ट कहलाता है । स्मित-पूर्वक भाषण करना पुरुषों के महत्त्व का परिचायक है। माघकवि ने प्रस्तुत पद्य में "स्मित" शब्द के पहिले शुचि शब्द का प्रयोग किया है। शुचि शब्द पवित्र शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है । शिशुपालवध के प्राचीन टीकाकार काश्मीरी पण्डित वल्लभदेव ने प्रस्तुत पद्य में स्मित शब्द के पहिले प्रयुक्त शुचि शब्द का धवल अथवा अदुष्ट अर्थ किया है। वास्तव में माघकवि ने यहाँ अदुष्ट (निर्विकार) अर्थ में ही शुचि शब्द का प्रयोग किया है।

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
सरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपियोग्यताम् ॥२६॥

सर्वङ्कषा—हरतीति । भवदीयदर्शनम्—शरीरभाजाम् । द्रष्टॄणामित्यर्थः 'भजोण्विः' । कालत्रितये—भूतादिकालत्रितयेऽपि । योग्यताम्—पवित्रतां, व्यनक्ति—गमयति । कुतः ?— सम्प्रति दर्शनकाले । अघं—पापं — हरति । एष्यतः—भाविनः । शुभस्य—श्रेयसो—हेतुः । तथा पूर्वाचरितैः—प्रागनुष्ठितैः, शुभैः—सुकृतैः, कृतम् । एवं त्रैकाल्येऽपिकार्यत्वेन कारणत्वेन च पुंसि सुकृतसमवायमवगमयते । अत एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः । अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रयोक्त्या वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥२६॥

अन्वयः—भवदीयदर्शनं शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यतां व्यनक्ति । सम्प्रति अघं हरति, एष्यतः शुभस्य हेतुः, शुभैः पूर्वाचरितैः कृतम् ॥२६॥

विवृतिः—भवदीयदर्शनम्—आप का दर्शन । भवतः इदम् भवदीयम् (भवत् + छ तस्य च ईय आदेशः) तच्च तद्दर्शनम् (दृश् + ल्युट्) साक्षात्कार इत्यर्थः । शरीरभाजाम्—शरीरधारियों की । देहधारिणाम् । शीर्यते इति शरीरम् (शॄ + औणादिक ईरन् प्रत्ययः) तत् भजन्ते सेवन्ते धारयन्ति इति वा शरीरभाजः (शरीर + भज् + ण्वि) तेषाम् "शरीरभाक्" शब्दस्य षष्ठी बहुवचन रूपम् । कालत्रितयेऽपि—तीनों कालों में । त्रयःअवयवाः यस्य तत् त्रितयम् (त्रि + तयप्) कालस्य त्रितयम् कालत्रितयम् तस्मिन् । योग्यताम्—योग्यता को । योक्तुं कर्मसु नियोक्तुम् अर्हः योग्यः (युज् + ण्यत्) तस्य भावः योग्यता (योग्य + तल् + टाप्) ताम् । व्यनक्ति—प्रकट करता है । प्रकटयति । व्यक्ति (विवेचन) म्रक्षण (स्निग्धता) कान्ति गति प्रभृतिष्वर्थेषु वर्तमानात् विपूर्वकाद् अञ्जु धातोः लट् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् । वल्लभदेवेन "व्यनक्ति" इत्यस्य "प्रकटयति" मल्लिनाथे च "गमयति" इत्यर्थः कृतः । विवेचनार्थे (प्रकटनार्थे) एव माघेनास्य प्रयोगः कृतः अत्रार्थे प्रयुक्तः टीककृद्भिः यो वा कोवाऽपि शब्दः संगत एव । सम्प्रति—इस समय। वर्तमानकाले । "एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुनासाम्प्रतं तथा" इत्यमरः । अघम्

पाप को। पापम्। हरति—दूर करता है। दूरीकरोति। हरणार्थकहृधातोः लट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। एष्यतः—आने वाले। आगमिष्यतः। गत्यर्थकात् इण्धातोः लृट्लकारे तस्य च "शतृ" आदेशे "एष्यत्" इति ततः षष्ठ्येकवचने "एष्यतः" इति। "शुभस्य" इत्यस्य विशेषणम्। शुभस्य—कल्याणस्य। हेतुः—कारणम्। शुभैः—शास्त्रों में बताए गये। शास्त्र-विहितैः लोकसम्मतैश्च। पूर्वाचरितैः—पूर्व जन्म में किये गये। पूर्वम् अन्यस्मिन् जन्मनि आचरितानि अनुष्ठितानि पूर्वाचरितानि (आङ् पूर्वकात् चर्धातोः भावे क्तप्रत्ययः) तैः। कृतम्—उत्पादितम् जनितमित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद :—महर्षि ! आपका दर्शन शरीरधारियों के तीनों ही कालों की योग्यता को प्रकट करता है। वह वर्तमान के अनिष्टों को दूर करता है। आने वाले शुभ का कारण तथा पूर्वजन्म में किये हुए शुभा-चरणों का फल है ॥२६॥

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥२७॥

सर्वङ्कषाः—जगतीति। जगति—अपर्याप्ताः—अपरिच्छिन्नाः सहस्रं भानवोंऽशवो यस्य तेन। भानुना—अर्केण। 'भानवोऽर्कहरांशवः' इति वैजयन्ती। यत्तमो नियन्तुं—निवारयितुं न समभावि—न शेके। भावे लुङ्। अविद्यमानमुत्तमं यस्मात्तत्—अनुत्तमं—सर्वाधिकम्, अदः—तमो मोहात्मकम्, असङ्ख्यतां गतैस्तेजोभिः प्रसह्य—बलात् त्वया नुन्नं—छिन्नम्। अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः। 'नुदविद—'इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वभावः। अत्रोपमानाद्भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरे-कालङ्कारः ॥२७॥

अन्वयः—जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् तमः नियन्तुं न समभावि अनुत्तमम् अदः असङ्ख्यतांगतैः तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुन्नम् ॥२७॥

विवृतिः—जगति—भुवने। अपर्याप्तसहस्रभानुना—पर्याप्त नहीं हैं

सहस्रों किरणें जिसकी। अपर्याप्ताः सहस्रं भानवः किरणाः यस्य सः तेन। "अपर्याप्तः" इत्यस्य वल्लभदेवेन "ऊनम्" इति मल्लिनाथे च "अपरिच्छिन्नाः" इतिचार्थः कृतः। अमरकोषकारेण अमरसिंहेन "पर्याप्तम्" इत्यस्य "प्रकामम्, निकामम्, इष्टम्, यथेप्सितम्" इत्यादयः पर्यायवाचिनः शब्दा संगृहीताः। न पर्याप्ताः (परि + आप्लृ + क्त) अपर्याप्ताःन्यूनाः। "परिच्छिन्ना" इत्यस्य "परिमिताः" इत्यर्थः न परिच्छिन्नाः अपरिच्छिन्नाः अपरिमिता इत्यर्थः। अत्र मन्मते वल्लभदेवस्यार्थः संगतः। भानुना—सूर्य। भाति इति भानुः (भा + औणादिकन) सूर्यः तेन। यत्तमः—जिस अंधकार को। यत् तिमिरम् अज्ञानात्मकम्। नियन्तुम्—निवारण करने में। निवारयितुम् दूरीकर्तुमित्यर्थः। निपूर्वकयमधातोः तुमुन् प्रत्ययः। न—नैव। समभावि—सका। शेके। समपूर्वकभूधातोः लुङि भावे ते प्रकृतं रूपम्। अनुत्तमम्—सर्वोत्तम। न विद्यते उत्तमं उत्कृष्टं यस्मात् तत्। अदः—इस। एतत्। अदसशब्दस्य नपुंसके प्रथमा विभक्तेः ए० वचने रूपम्। इह "तमः" इत्यस्य प्रतिनिधितयाऽस्य प्रयोगः। असङ्ख्यतांगतैः—असंख्य। संख्यानम् संख्या (चक्षिङ् धातोः "ख्या" आदेशः + अङ् प्रत्ययश्च) न विद्यते संख्या गणना यस्य तत् असंख्यम् तस्य भावः असङ्ख्यता ताम् असंख्यताम्। गतैः प्राप्तैः। तेजोभिः—(ज्ञान की) किरणों से। धामभिः ज्ञानमयैरित्यर्थः। प्रसह्य—बलपूर्वक। बलात् हठाद् इत्यर्थः। प्रपूर्वकात् मर्षणार्थक षह (सह) धातोः क्त्वा प्रत्ययः तस्य च ल्यबादेशः। "प्रसह्य तु हठार्थकम्" इत्यमरः। त्वया—भवता नारदेन। नुन्नम्—दूर कर दिया। निरस्तम्। प्रेरणार्थकात् णुद् धातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः ॥२७॥

हिन्दी अनुवाद—संसार में (पर्वतों की कन्दराओं, दुर्गों के सुरंगों तथा वन के अत्यन्त घने भागों आदि में) ही अपर्याप्त हैं सहस्र किरणें जिनकी ऐसे सूर्य भी जिस अन्धकार (मनुष्यों के हृदय में स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार) को दूर न कर सके उसी सर्वमहान् अन्धकार को आपने असंख्य (सूर्य की भाँति केवल सहस्र ही नहीं) किरणों से बलपूर्वक दूर कर दिया ॥२७॥

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥२८॥

सर्वङ्कषा—कृत इति । प्रजानां—जनानामपत्यानां च, क्षेमकृता—कुशलकारिणा "प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" इत्यमरः । सुपात्रे—योग्यपुरुषे, कटाहादिदृढभाजने च, निक्षेपेण—निधानेन च निराकुलात्मना—स्वस्थचित्तेन । "योग्यभाजनयोः पात्रम्" इत्यमरः । प्रजासृजा —ब्रह्मणा, पुत्रिणा च । त्वं—धनसम्पदामिव श्रुतीनां—वेदानां, सदोपयोगे—दानभोगाभ्यां व्ययेऽपि—अक्षयः । एकत्राम्नानादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः । गुरुः—उपदेष्टा । सम्प्रदायप्रवर्तक इति यावत् । अन्यत्र—महान् । निधीयत इति निधिः—निक्षेपः कृतः । 'उपसर्गे घोः किः' । श्रुतिसम्प्रदायद्वारा धर्माऽधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषोऽयं प्रकृतविषय इत्याहुः ॥२८॥

अन्वयः—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वं धनसम्पदाम् इव श्रुतीनां सदा उपयोगे अपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः ।

विवृतिः—**प्रजाक्षेमकृता**—प्रजा का कल्याण करने वाले । जनमंगलकारिणा । प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजाः (प्र + जनि + ड + टाप्) "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इत्यमरः । तासां क्षेमं कुशलं करोति इति प्रजाक्षेमकृत् (प्रजाक्षेम + कृ + क्विप् + तुक्) तेन । **सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना**—योग्य पात्र में स्थापित करने के कारण स्वस्थ अन्तःकरण वाले । सुष्ठु च तत् पात्रं सुपात्रम् (गतिसमासः) समीचीनं भाजनं प्रकृते तु योग्यपुरुषः तत्र निक्षेपः (नि + क्षिप् + घञ्) निधानम् स्थापनमित्यर्थः तेन निराकुलः स्वस्थः आत्मा अन्तःकरणम् यस्य सः तेन । **प्रजासृजा**—ब्रह्मा ने । प्रजाः सृजति इति प्रजासृट् (प्रजा + सृज् + क्विप्) तेन विश्वः विधात्रा ब्रह्मणा इत्यर्थः । **त्वम्**—भवान् नारदः । **श्रुतीनाम्**—वेदों के । श्रूयन्ते धर्माः याभिः ताः श्रुतयः (श्रु + क्तिन्) वेदाः तासाम् । "वेदे श्रवसि च श्रुतिः" इत्यमरः । "श्रुतिः श्रोत्रे (कर्णे) तथाऽम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि" इति च विश्वः । सदा—

सर्वकाले । उपयोगेऽपि—व्यय करने पर भी । व्ययेऽपि । अक्षयः—अनन्त । न विद्यते क्षयः (क्षि + अच्) यस्य सः । अनश्वरः अनन्त इत्यर्थः । गुरुः—महान् । महान् । निधिः—निधीयते इति निधिः (नि + धा + कि) "निधिर्ना शेवधिः" इत्यमरः । कृतः—किया । विहितः सृष्टः इत्यर्थः ॥२८॥

हिन्दी अनुवाद—प्रजाओं के कल्याण करने वाले, योग्य पात्र में स्थापित करने के कारण स्वस्थ अन्तःकरण वाले श्री ब्रह्मा जी ने आपको धन-सम्पत्तियों के निधि अर्थात् खजाना के समान, सदैव व्यय होने पर भी कभी क्षीण न होने वाला वेदों का निधि (खजाना) सा बनाया है ॥२८॥

विशदार्थ—भगवान् ब्रह्मा सारी सृष्टि के निर्माता हैं। मनुष्य उनकी सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वे उसका सर्वतो भावेन कल्याण चाहते हैं। मनुष्य का कल्याण धर्म (विहित के पालन तथा निषिद्ध के त्याग) पर निर्भर है। धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार वेदों के द्वारा होता है। वेद भी वैभव हैं। जैसे कोई पिता न्याय और परिश्रम से अर्जित धन को धनसंवर्धन और संरक्षण में समर्थ पुत्र को सौंपकर एक मानसिक स्वस्थता-सी प्राप्त करता है वैसे ही आप जैसे सत्पात्र को अपने (वेदज्ञान रूपी) वैभव को सौंपकर स्वस्थ अन्तःकरण वाले ब्रह्मा जी ने आपको धन-सम्पत्तियों के निधि के समान, प्रवचन के रूप में सदैव व्यय होने पर भी कभी भी क्षीण न होने वाला वेदों का एक निधि-सा बनाया है ॥२८॥

> विलोकनेनैव तवामुना मुने ! कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा ।
> तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥

सर्वङ्कषा—विलोकनेनेति । हे मुने ! निबर्हितांहसा—अपहतपाप्मना, अत एव—अमुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि । तथाप्यहं गरीयसीः—अर्थवत्तराः । 'द्विवचन—' इत्यादिना ईयसुन्प्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । गिरः—तव वाचोऽपि—शुश्रूषुः—श्रोतुमिच्छुरस्मि । शृणोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । न चैतद्वृथेत्याह—अथवा । तथाहीत्यर्थः । अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्धयोरिति गणव्या-

ख्यानात् । श्रेयसि विषये केन तृप्यते ? न केनापीत्यर्थः । कृतार्थताया इयत्ताऽभावादिति भावः । भावे लट् ॥२९॥

अन्वयः—हे मुने ! निर्बर्हितांऽहसा अमुना तव विलोकनेन एव कृतार्थः कृतः अस्मि । तथापि अहं गरीयसीः तव गिरः शुश्रूषुः अस्मि । अथवा श्रेयसि केन तृप्यते ।

विवृतिः—निर्बर्हितम्—नष्ट कर दिया है । (निपूर्वकात् हिंसार्थकात् बर्ह धातोःकर्मणि क्त प्रत्ययः) नाशितं दूरीकृतम् । अंहः—पाप । पापं । येन तत् तेन । तव—भवतः । अमुना—इस । अनेन । विलोकनेनैव—दर्शन मात्र से ही । दर्शनमात्रेणैव । विपूर्वकात् दर्शनार्थकात् लोकृ धातोः भावे ल्युट् प्रत्ययः । एवेत्यवधारणार्थकोऽव्ययः । कृतार्थः—कृतकृत्य । कृतः अर्थः येन सः कृतकृत्यः इत्यर्थः । कृतः अस्मि —सम्पादितः अस्मि कृ धातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः । तथापि । अहम् । तव गरीयसीः गिरः—तुम्हारी महत्त्वपूर्ण वाणी को । भवतः अतिशयेन गुर्व्यः गरीयस्यः (गुरु + ईयसुन् + ङीप्) ताः गिरः वाचः । शुश्रूषुः—सुनने का इच्छुक । श्रोतुमिच्छुः । श्रवणार्थक श्रु धातोः इच्छार्थकः "सन्" प्रत्ययः कर्तर्यर्थकः "उ" प्रत्ययश्च । अथवा । श्रेयसि—कल्याण के विषय में । कल्याणविषये । "श्रेयस्" शब्दः कल्याणार्थकः नपुंसकलिङ्गः तस्य सप्तम्येकवचने प्रकृतं रूपम् । सप्तम्याश्च विषयोऽर्थः । केन तृप्यते—किसको तृप्ति होती है । न केनापि इत्यर्थः । प्रीणनार्थक तृप् धातोः भावे लटि "तृप्यते" इति ।

हिन्दी अनुवाद—महर्षि ! पापों को नष्ट करने वाले आपके इस दर्शन से ही कृतकृत्य हूँ फिर भी आपकी महत्त्वपूर्ण वाणी को सुनने के लिये इच्छुक हूँ । अथवा कल्याण के विषय में किसकी तृप्ति होती है ? ॥२९॥

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया ।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥३०॥

सर्वङ्कषा —गतस्पृहोऽपीति । गतस्पृहः—विरक्तोऽपि, त्वमागमनप्रयोजन वदेति वक्तुं यया—धृष्टतया व्यवसीयते—उद्यम्यते । स्यतेर्भावे

लट् । उदितमुत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो मम गौरवं येन सः । **गुरुः**—श्लाघ्यः, **एष तवागमः**—आगमनमेव नोऽस्माकं तां **धृष्टतां तनोति**—विस्तारयति । 'तनु विस्तारे' लट् । भवतो निःस्पृहत्वेऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनव्याप्त्या सावकाशः प्रश्न इति भावः ॥३०॥

अन्वयः—गतस्पृहः अपि आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया व्यवसीयते उदितात्मगौरवः गुरुः एषः तव आगमः एव नः तां धृष्टतां तनोति ।

विवृतिः—**गतस्पृहः**—विरक्त । गता अपास्ता स्पृहा तृष्णा यस्य सः विरक्त इत्यर्थः । **अपि** । **आगमनप्रयोजनम्**—आने का कारण । प्रयोजयति कार्ये प्रवर्तयति इति प्रयोजनम् (प्र + युज् + णिच् + ल्युट्) कारणमित्यर्थः । आङ् पूर्वकात् गम् धातोः भावे ल्युट् प्रत्यये "आगमनम्" इति आगमनस्य प्रयोजनम् आगमनप्रयोजनम् । **वद**—कथय । वद् धातो लोट्लकारे म० पु० ए० वचन रूपम्' "त्वम्" इति कर्ता "वद" इत्यस्य तस्य च प्रसंगेनैव लाभः । **इति**—एवम् । **वक्तुम्**—कहने के लिए । कथयितुम् । व्यक्त वचनार्थकात् ब्रूञ् धातोः तुमुन् प्रत्ययः । **यया**—धृष्टतया । **व्यवसीयते**—उद्योग किया जा रहा है । उद्योगः क्रियते । वि पूर्वकात् अवपूर्वकाच्च अन्तकरणार्थक षो (सो) धातोः भावे लट् लकारे रूपम् । **उदितात्मगौरवः**—जिससे अपना गौरव उत्पन्न किया है । गुरोः भावः गौरवम् (गुरु + अञ्) आत्मनः गौरवम् आत्मगौरवम् उदितम् । (उद् + इण् + क्त) उत्पन्नम् आत्मगौरवं येन सः । **गुरुः**—महान् । **एषः**—यह । अयम् । **तव**—भक्तः । **आगमः**—आगमनम् । **नः**—हमारी । अस्माकम् । **धृष्टताम्**—ढिठाई को । धृष्टस्य भावः धृष्टता (धृष्ट + तल् + टाप्) तम् । **तनोति**—बढ़ा रहा है । विस्तारयति । विस्तारार्थक तनु धातोः लट् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥३०॥

हिन्दी अनुवाद—निःस्पृह होकर भी "आप अपने आने का कारण बतलाइये" ऐसा कहने के लिये जिसके कारण उद्योग किया जा रहा है, जिससे अपना गौरव उदित हुआ है आपका वह महत्त्वपूर्ण आना ही हमारी उस ढिठाई को बढ़ा-सा रहा है ॥३०॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥३१॥

सर्वङ्कषा—इति ब्रुवन्तमिति । इति ब्रुवन्तं तं—हरिं स व्रती—मुनिरुवाच । किमिति ?—हे पुरुषोत्तम—पुरुषेषु श्रेष्ठः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं 'गतस्पृहोऽपि' इति, न वाच्यम् । निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः । तदेवाह—योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः—प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतः—अस्मादन्यद्, गुरु कार्यं किमस्ति ?—न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—इति ब्रुवन्तं तं सः व्रती उवाच, हे पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थं न वाच्यम् । योगिनामपि त्वम् एव साक्षात्करणीयः इत्यतः गुरुकार्यं किमस्ति ॥ ३१ ॥

विवृतिः—इति—उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्तम्—कहते हुए । अभिदधानम् । व्यक्तवचनार्थक ब्रूञ् धातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न "ब्रुवत्" शब्दात् द्वि० विभक्ते ए० वचने रूपम् । तम्—उनसे (श्रीकृष्ण से) । श्री श्रीकृष्णम् । सः—उक्तः नारद इत्यर्थः । व्रती—तपस्वी (नारद) । व्रियते इति व्रतम् (वृञ् + अतच् औणादिक) तदस्यास्तीति व्रती (व्रत् + इनि) तापसः । व्रतिन् शब्दस्य प्र० विभक्तेः ए० वचने रूपम् । 'नियमो व्रतमस्त्रीतच्चोपवासादि पुण्यकम्' इत्यमरः । उवाच—बोले । अब्रवीत् । ब्रूञ् धातोः लिट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् । ब्रूञ् इत्यस्य "वच" आदेशः सम्प्रसारणञ्च । पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम (श्रीकृष्ण) । पुरुषेषु उत्तमः श्रेष्ठः पुरुषोत्तमः तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! "पुरुषोत्तम" इति विष्णुनाम । "पुरुषावात्ममानवौ" इति अमरवचनात् पुरुषशब्दः आत्मार्थऽकोपि ततः परमात्मवत् 'पुरुषोत्तम' इत्यपि विष्णुपर्यायवाची भवेदेव । एवंच पुरुषेषु उत्तमः इत्यस्य आत्मसु श्रेष्ठः इत्यर्थः । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति वचनात् विष्णुपर्यायवाचिनः सर्वेऽपि शब्दाः कृष्णपर्यायवाचिनः । एवंच भगवति कृष्णे "पुरुषोत्तम !" इति सम्बोधनं युक्तमेव ।

त्वया—तुमको। भक्ता कृष्णेनेत्यर्थः। **इत्थम्**—इस प्रकार। एवम्। **न**—नैव। **वाच्यम्**—कहना चाहिए। वक्तव्यम्। ब्रूञ् धातोः ण्यत् प्रत्ययः वच् आदेशश्च। **योगिनाम्**—योगियों के। समाहितात्मनामपि। चित्तवृत्तिनिरोधः योगः (युज् + घञ्) सोऽस्ति येषां ते योगिनः (योग + इनि) तेषाम् अपि। इतरेषां तु का कथा इति ध्वनिलभ्योऽर्थः। **त्वमेव**—भवानेव। **साक्षात्-करणीयः**—दर्शनीय। प्रत्यक्षीकर्तव्यः। "साक्षात्" इति प्रत्यक्षार्थकोऽव्ययः "साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः" इत्यमरः। तत्पूर्वकात्कृञ् धातोः अनीयर् प्रत्ययः। **इत्यतः**—इससे (आपके दर्शन से)। भवद्दर्शनापेक्षया। **गुरु**—महान्। महत्। "गुरु" इत्ययंशब्दः महति, भारवति, उपदेष्टरि, पितरि ज्येष्ठे भ्रातरि च प्रयुज्यते। प्रकृते महति प्रयोगोऽस्य। "कार्यम्" इत्यस्य विशेषणम्। **कार्यम्**—कर्तव्यम्। कर्तुं योग्यमित्यर्थे करणार्थकात् कृञ् धातोः ण्यत् प्रत्ययः। **किम्**—प्रश्नार्थेऽव्ययः। **अस्ति**—है। विद्यते। भवद्दर्शनादधिकं नास्ति किमपि महत्कार्यम् इति ध्वनिलभ्योऽर्थः।

हिन्दी अनुवाद—ऐसा कहते हुए भगवान् श्री श्रीकृष्ण से नारद जी ने कहा—पुरुषोत्तम ! आप ऐसा न कहें। योगी लोग भी (समाधिस्थ होकर) आपका ही दर्शन करते हैं। इससे (आपके दर्शन से) बड़ा कौन सा कार्य है ? ॥ ३१ ॥

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ ३२ ॥

सवङ्कषा—**उदीर्णरागेति**। **उदीर्णः**—उद्रिक्तो **रागः**—विषयाभिलाषः स एव, **प्रतिरोधकः**—प्रतिबंधकः पाटच्चरश्च यस्मिन्। "प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः" इत्यमरः। **अभीक्ष्णमक्षुण्णतया**—अनभ्यस्तत्वेन, अप्रतिहतत्वेन च, **जनैरतिदुर्गमं मोक्षपथम्**—अपवर्गमार्गं, कान्तारं च **उपेयुषः**—प्राप्तवतः। 'उपेयिवान्—' इत्यादिना क्वस्वन्तो निपातः। **मनस्विनः**—सुमनसः धीरस्य च। प्रशंसायां विनिः। **त्वमेव निरपायः**—पुनरावृत्तिरहितः **संश्रयः** प्राप्तिर्यस्याः सा तथोक्ता। "न स पुनरावर्तते" इति श्रुतेः।

अग्रभूमिः—प्राप्यस्थानम् । "अग्रमालम्बने प्राप्ये" इति विश्वः । 'सोऽहम्' इत्यादिश्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम् । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेः । यथा कस्यचित्कुतश्चित्सङ्कटान्निर्गतस्य केनचित्कान्तारेण गतस्य किञ्चिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनिः ॥३२॥

अन्वयः—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमं मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वं निरपायसंश्रया अग्रभूमिः असि ।

विवृतिः—उदीर्णरागप्रतिरोधकम्—बढ़ी हुई विषयों की अभिलाषा ही है रुकावट पैदा करने वाली जिसमें उसको । उदीर्णः (उत् + ऋ + ईर् + क्त) प्रवृद्धः रागः (रञ्ज + घञ्)विषयाभिलाषः प्रतिरोधकः (प्रति + रुध् + ण्वुल्) प्रतिबन्धकः चौरः यत्र सः तम् । अभीक्ष्णम्—निरन्तर । निरन्तरम् । "मुहुः मुहुः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत् समाः" इत्यमरः । अक्षुण्णतया—अभ्यास न होने के कारण । क्षुण्णम् (क्षुद् + क्त) अभ्यस्तम् गतागताभ्याम् आवृत्तम् इत्यर्थः न क्षुण्णम् अक्षुण्णम् तस्य भावः अक्षूण्णता (अक्षुण्ण + तल् + टाप्)तया । अतिदुर्गमम्—अत्यन्त दुर्गम । दुःखेन गम्यते इतिदुर्गमः (दुर् + गम् + खल्) दुर्गमम् अतिक्रान्तः अतिदुर्गमः तम् । मोक्षपथम्—मुक्ति मार्ग को । मोक्षस्य (मोक्ष + अच्) अपवर्गस्य मुक्तेरित्यर्थः पन्थाः मोक्षपथः (मोक्ष + पथिन् + अ) तम् । उपेयुषः—प्राप्त करने वाले । प्राप्तवतः । उपपूर्वकात् इण्धातोः क्वसुप्रत्यये निष्पन्नस्य उपेयिवसशब्दस्य षष्ठीविभक्तेः ए० वचने रूपम् । मनस्विनः—मनस्वी के । महामनसः मनःशब्दात् प्राशस्त्येऽर्थे मतुबर्थीये विनिप्रत्यये निष्पन्नमनस्विन्शब्दस्य षष्ठीविभक्तेः ए० वचने रूपम् । त्वम्—भवान् श्री श्रीकृष्णः निरपायसंश्रया—जहाँ पहुँचकर पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसे । निर्गतः अपायः (अप् + इण + घञ्) विश्लेषः परिच्युतिः यस्मात् सः निरपायः निरपायश्चासौ संश्रयः (सम् + श्रिञ् + अच्) परिग्रहः प्राप्तिः यत्र सा । अग्रभूमिः—प्राप्य स्थान । अग्रा चासौ

भूमिः जग्रभूमिः। "अग्रभूमिः" इत्यस्य वल्लभदेवेन प्रान्तभूमिः इत्यर्थः कृतः। "प्रान्तभूमि" शब्दस्य च "पराभूमिः" इति पर्यायवाचीशब्दः प्रयुक्तः। "पराभूमि" शब्दस्य तु "चरमाभूमिः" इत्यर्थः भवति। मल्लिनाथेन च "प्राप्यस्थानम्" इत्यर्थः कृतः। इत्यस्य अर्थस्य युक्तत्वे "अग्रमालम्बनेप्राप्ये" इति विश्वकोषश्च उदाहृतः। उभयोः अपि टीकाकारयोः उभावप्यर्थौ साधू। परां भूमिमेव आसाद्य मनस्वी निवर्तते न तु मार्गस्य मध्यात्। मनस्विनः प्राप्यंस्थानमपि भवत्येव पराभूमिः। स्वकर्मभिः इतराद् अतिक्रान्तुं मनस्विनः स्वभाव एव भवति। असि—हो। अस् धातोः म० पु० ए० वचने रूपम् ॥३२॥

हिन्दी अनुवाद—बढ़ा हुआ विषयाभिलाष जिसमें रुकावट डालने वाला (लुटेरा) है तथा गतागत से रहित होने के कारण जनसाधारण के लिये जो अतीव दुर्गम है ऐसे मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए मनस्वियों के लिये, आप विश्लेषशून्य हैं, पहुँचना जहाँ का ऐसे शीर्षस्थान हैं ॥३२॥

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥३३॥

सर्वङ्कषा—उदासितारमिति। पुराविदः—पूर्वज्ञाः कपिलादयः। त्वां निगृहीतमानसैः—अन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः—आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'अनश्च' इति समासान्तष्टच्। अध्यात्मं या दृक् ज्ञानं तया—अध्यात्मदृशा—प्रत्यग्दृष्ट्या, कथञ्चन गृहीतं—साक्षात्कृतम्। केन रूपेण गृहीतमित्यत आह उदासितारम्—उदासीनम्। प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वादस्पृष्टमित्यर्थः। आसेस्तृच्। विकारेभ्यो बहिः–बहिर्विकारम्। महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः। 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इत्यव्ययीभावः। किञ्च प्रकृतेः—त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात्पृथग्—भिन्नम्। "प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे" इति यादवः। पुरा भवं पुरातनम्—अनादिम्। 'सायंचिरम्—'इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः। पुरुषं—पुरुषपदवाच्यं विज्ञानघनं। विदुः— विदन्ति। 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः। यथाहुः—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकञ्च विकारो न प्रकृतिर्न

विकृतः पुरुषः ॥' इति । "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इत्यादि श्रुतिश्च । सोऽपि त्वमेव, 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात् । तस्मात्त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भावः ॥३३॥

अन्वयः – पुराविदः त्वां निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीतम् उदासितारं बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथक् पुरातनं पुरुषं विदुः ।

विवृतिः —पुराविदः—(कपिलादि) तत्त्ववेत्ता । पुरा प्राग्भवंवृत्तं विदन्ति जानन्ति ये ते पुराविदः (पुरा + विद् + क्विप्) गतिसमासः । पुराविद्शब्दस्य प्र० विभक्तेः ब० वचने रूपम् । वल्लभदेवेन "पुराविदः" इत्यस्य "सनत्कुमारप्रभृतयः" मल्लिनाथेन च "कपिलादयः" इत्यर्थः कृतः । उभावप्यर्थौ साधू सनत्कुमारादयः कपिलादयः सर्वेऽपि पुराविदः किन्तु मल्लिनाथकृतोऽर्थः समीचीनतरः कपिलो हि भगवान् सांख्यशास्त्राचार्यः प्रकृतिपुरुषादिः विषयश्च सांख्यशास्त्रीय एव । त्वाम् – भवन्तं श्री श्रीकृष्णम् । निगृहीतमानसैः—मन को वश में करने वाले लोगों के द्वारा । निगृहीतं (नि + ग्रह + इट + क्त) शासितं स्ववशमानीतं मानसं मनः यैः ते निगृहीतमानसाः तैः । अध्यात्मदृशा – आध्यात्मिक नेत्र (ज्ञान) से । आत्मनि अधि इति अध्यात्मम् (अव्ययीभावसमासः) तस्य दृक् अध्यात्मदृक् तया । ज्ञानमय्या दृष्ट्या इत्यर्थः । कथञ्चित्—किसी प्रकार । महता प्रयत्नेन । गृहीतम्—साक्षात्कार किये गये हुए । साक्षात्कृतम् । उदासितारम्—(संसार से) उदासीन । कर्तृत्वभोक्तृत्वाभ्यां रहितम् । उत् पूर्वकात् उपवेशनार्थकात् आस् धातोः तृच् प्रत्यये इडागमे च निष्पन्नस्य उदासितृ-शब्दस्य द्वि० विभक्तेः ए० वचने रूपम् । बहिर्विकारम्—महदादि विकारों से पृथक् । विकारेभ्यः बहिः (अव्ययीभावसमासः) बहिर्विकारम् महदादिभ्यः पृथग्भूतम् । प्रकृतेः—(सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों से लिप्त) । प्रकुरुते इति प्रकृतिः विश्वोपादानभूताशक्तिः तस्याः । पृथक्—भिन्न । भिन्नम् । परमित्यर्थः । पुरातनम्—अनादि । पुराणम् । पुराभवः पुरातनः (पुरा + ट्यु + तुडागमः) तम् । आद्यम् इत्यर्थः । पुरुषम्—सांख्यशास्त्रे "पुरुष" पदेन अभिधीयमानं प्रकृतिविकृतिव्यतिरिक्तं भोग्यभूतायां प्रकृतौ भोक्तृ-

भावेन लीनस्य जीवात्मनः कर्मणां साक्षिणम् । विदुः—जानते हैं। जानन्ति। विद्धातोः लट् लकारे प्र० पु० बहुवचने रूपम् ।

हिन्दी अनुवाद—कपिलादि तत्त्ववेत्ता आपको अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में करने वाले लोगों द्वारा अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक ज्ञानमय नेत्रों से साक्षात्कृत विकारों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च-महाभूत, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द महाभूतों की एक पञ्च तन्मा-त्राएँ, नाक, जीभ, नेत्र, त्वक् तथा कान ये पाँच ज्ञान की और हस्त, चरण, मुख, मलस्थान तथा मूत्रस्थान ये पाँच कर्म की इन्द्रियाँ और इनका नेता मन, बुद्धि तथा अहंकार सांख्य दर्शन के अनुसार ये २३ विकार हैं) से बाह्य तथा प्रकृति (विश्व की उपादानभूत शक्ति) से पृथक् आदि पुरुष मानते हैं ॥३३॥

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥३४॥

सर्वङ्कषा—निवेशयामासिथेति । जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः—एका-धिपतिः, एकशिल्पी च । "स्थपतिरधिपतौ तक्षिण बृहस्पतिसचिवयोः" इति वैजयन्ती । त्वं हेलयोद्धृतम् । वराहावतारे इति भावः । फणाभृताम् ओकसः—आश्रयस्य, सद्मनश्च । "ओकः सद्मनि चाश्रये" इति विश्वः । एकं छादनम्—आवरणं, भूतलमुच्चकैरुन्नतेषु च,—अहीश्वरः—शेष एव स्तम्भस्तस्य शिरःसु—मूर्धसु, अग्रेषु च। फणासहस्रेष्विति भावः। निवेश-यामासिथ—निवेशितवानसि। विशतेर्ण्यन्ताल्लिटि थल् । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यस्तेरनुप्रयोगः । अत्र श्लिष्टाश्लिष्टरूपकयोर्हेतुमद्भावाच्छ्लिष्ट परम्परितरूपकम् ॥३४॥

अन्वयः—जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वम् हेलया उद्धृतम् फणाभृताम् ओकसः एकं छादनम् भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरस्सु निवेशयामासिथ ॥३४॥

विवृतिः—जगत्त्रयैकस्थपतिः—तीनों लोकों के प्रधान शिल्पी । त्रयोऽवयवा यस्य तत् त्रयम् (त्रि + अयच्) जगतां त्रयम् जगत्त्रयम् स्थः (स्था + क) चासौ पतिः स्थपतिः शिल्पी (लोके "थवई", "राजगीर" इति

च प्रसिद्धः) "स्थपतिः कारुभेदेऽपि" इत्यमरः। एकः (प्रधानः) चासौ स्थपतिः एकस्थपतिः जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः जगत्त्रयैकस्थपतिः त्रिभुवनस्य प्रधानः शिल्पी। त्वम्—भवान्। हेलया —अनायास। अनादरेण। अनायासेनेति प्रसंगलब्धोऽर्थः। "हेला" इत्ययं स्त्रीलिङ्गः शब्दः हिल्धातोः घञ् प्रत्यये निष्पन्नः। अनादरार्थकः नाट्ये च संचारभावविशेषे प्रयुक्तः। प्रकृते अनादरार्थकः। प्रसंगाच्च "अनायास" इत्यर्थे प्रयोगः बोध्यः। "हेलया" इति तृ० वि० ए० वचने रूपम्। उद्धृतम्—उठाये हुए। उत्थापितम्। उत्पूर्वक धृधातोः कर्मणि क्तप्रत्यये उद्धृतमियेति तच्च "भूतलम्" इत्यस्य विशेषणम्। फणाभृताम्—सर्पों के। फणाः बिभ्रति ते फणाभृतः (फणा + भृ + क्विप् + तुक्) तेषाम् सर्पाणामित्यर्थः। ओकसः—गृह के। सद्मनः। "ओकः सद्मनि चाश्रये" इत्यमरः। छादनम्—छादन (छत)। पिधानम्। अपवारणार्थकात् णिजन्तात् छद्धातोः करणे ल्युट्प्रत्ययः। भूतलम्—पृथ्वीतल को। भुवः पृथिव्याः तलम् भूतलम्। उच्चकैः—ऊँचे। उत्तुङ्गेषु। अहीश्वरस्तम्भशिरःसु—शेषनाग रूपी खम्भों के शिरों पर। अहीनाम् सर्पाणाम् ईश्वरः अधिपतिः अहीश्वरः शेषः तस्य स्तम्भा इव शिरांसि अहीश्वरस्तम्भशिरांसि तेषु निवेशयामासिथ—स्थापित किया। स्थापयामासिथ। निपूर्वकात् णिजन्तात् विश् धातोः लिट्लकारे म० पु० ए० वचने (थलि) रूपम् ॥३४॥

हिन्दी अनुवाद—त्रिभुवन के प्रधान शिल्पी आपने (वराह अवतार में) विना प्रयत्न उठाये हुए, सर्पों के गृह (पाताल लोक) के छादन (छत) के से पृथ्वीतल को नागराज शेष के खम्भों के से ऊँचे-ऊँचे शिरों पर स्थापित किया ॥३४॥

> अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते।
> मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान्गुणैर्भवाभवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥३५॥

सर्वङ्कषा—अनन्येति। न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्याः—अनन्यगुर्वाः इत्यनीकारान्तः पाठः। समासात्प्राङ्ङीपि 'नद्यृतश्चः' इति कप्प्रसङ्गः स्यात्। पश्चात्त्वनुपसर्जनाधिकारात् 'वोतो गुणवचनात्' इति न प्राप्नोति।

'ङिति ह्रस्वश्च' इति वा नदीसंज्ञत्वात् 'आण्नद्याः' इत्याडागमः। केचित्तु समासान्तविधिरनित्य इति कपं वारयन्ति। तस्याः सर्वोत्तमायाः, तव पुराणमूर्तेः—अमानुषस्वरूपस्य। केवलः—कृत्स्नः। "केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे" इति विश्वः। महिमा केनावगम्यते ? न केनापीत्यर्थः। कुतः ? मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान्। "अवर्ज्यो हि बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः" इति वामनः। भवच्छेदकरैः—संसारनिवर्तकैः, गुणैर्ज्ञानादिभिः सुरासुरान्—सुरासुरविरोधस्य कार्योपाधिकत्वेनाशाश्वतिकत्वात् "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" इति न द्वन्द्वैकवद्भाव इत्याहुः। अधः करोति—'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः। भवच्छब्दस्य युष्मदस्मदन्यत्येन शेषत्वादिति। मानुष एव ते महिमा दुरवगाहः, अमानुषस्तु किमिति तात्पर्यार्थः। द्वितीयार्धेऽसकृद्व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अनन्यगुर्व्याः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते मनुष्यजन्मा अपि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरान् अधः करोति ॥३५॥

विवृतिः—अनन्यगुर्व्याः—सर्वश्रेष्ठ। न विद्यते अन्यः गुरुः महान् यस्याः सा अनन्यगुर्वी सर्वोत्कृष्टेत्यर्थः तस्याः। तव—भवतः। पुराणमूर्तेः—चिरंतन शरीर की। पुराणा चासौ मूर्तिः तस्याः चिरंतनशरीरस्य। 'दिव्यगुणकर्मस्वभावायाः प्रत्यक्षाया अपिमूर्तेः" इति प्रासंगिकोऽर्थः। केवलः—संपूर्ण। कृत्स्नः निखिल इत्यर्थः। "निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः" इत्यमरः। महिमा—महत् शब्दात् इमनिच् प्रत्यये निष्पन्नमहिमन्शब्दस्य प्र० वि० ए० वचने रूपम्। केन अवगम्यते—कौन जानता है ? मनुष्यजन्मा—मनुष्य शरीरधारी। "मनुष्याज्जन्मयस्य सः मनुष्यजन्मा" इति मल्लिनाथः। "मनुष्यजन्मन्" शब्दस्य प्र० वि० ए० वचने रूपम्। अपि। भवान्—श्री श्रीकृष्णः। "भवत्" शब्दस्य प्र० वि० ए० वचने रूपम्। लोके "अपि" इति प्रचलित शब्दस्यार्थप्रकाशकः संस्कृतभाषाशब्दः। प्र० पुरुषऽस्य प्रयोगः। भवच्छेदकरैः—सांसारिक दुःखद्वन्द्वों को दूर करने वाले। भवस्य संसारस्य जननमरणरूपस्य बन्धनस्य छेदः (छिद् + घञ्) भवच्छेदः तं कुर्वन्ति ये ते भवच्छेदकराः

(भव + छेद् + क्त + ट) तैः। गुणैः—ज्ञानादि गुणों से। ज्ञानादिरूपैः। सुरासुरान्—देवताओं और राक्षसों को। सुराः देवाः असुराः आदेवाः सुराश्चासुराश्च सुरासुराः तान्। अधः—नीचे। नीचैः। करोति—कुरुते ॥३५॥

हिन्दी अनुवाद—आपके इस सर्व महान् अमानस्वरूप की सम्पूर्ण महिमा को कौन जानता है? मनुष्य शरीरधारी होकर भी आप अपने संसारनिवर्त्तक (ज्ञानवैराग्यादि) गुणों से देवताओं और असुरों को पीछे कर रहे हैं ॥३५॥

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥३६॥

सर्वङ्कषा—लघूकरिष्यन्निति। त्वमतिभारेणोर्जेन स्वरूपेण भङ्गुरां स्वयं भज्यमानाम्। 'भञ्जभासभिदो घुरच्।' 'भंगुरः कर्मकर्तरि' इति वामनः। अमूम्। भुवमित्यर्थः। लघूकरिष्यन्—निर्भारां करिष्यन्। किल। 'कृभ्व-स्ति—' इत्यादिनाभूततद्भावे च्विः। 'च्वौ च' इति दीर्घः। तृतीया द्यौः। त्रिदिवः—स्वर्गस्तस्मात्। 'घञर्थे कविधानम्' वृत्तिविषये सङ्ख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागादिवत्। अवातरः—अवतीर्णोऽसि। साम्प्रतं—सम्प्रति। उदूढलोकत्रितयेन—'कुक्षा'विति शेषः। त्वया धरित्री गुरुः—पूज्या, भारवती च। क्रियतेतराम्—अतिशयेन क्रियते। 'तिङश्च' इति तरप्। किमेत्तिङव्ययघात्—' इत्यादिना आमुप्रत्ययः। लघुकर्त्ता गुरुकर्तेति विरोधा-भासोऽलङ्कारः। 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ॥३६॥

अन्वय :—त्वम् अति भारभङ्गुराम् अमूम् लघूकरिष्यन् त्रिदिवात् अवातरः किल। साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेत-राम् ॥३६॥

विवृतिः—त्वम्—भवान्। अतिभारभङ्गुराम्—अत्यधिक भार से स्वयं भग्न होती हुई। अतिभारेण भाराधिक्येन भङ्गुरा (भञ्ज + घुरच् औणादिक + टाप्) स्वयंभज्यमाना अतिभारभङ्गुरा ताम्। अमूम्—इसको (पृथ्वी को)। पृथ्वीम्। अदस्शब्दस्य स्त्रियां द्वि० वि० ए० वचने रूपम्। लघूकरिष्यन्—

हल्की बनाने के लिये। भारशून्यां विधास्यन्। कृयोगे लघुशब्दात् अभूततद्-भावे च्विप्रत्ययः "च्वौ च" पा० सू० ७।४। २६ इति लघु उकारस्यदीर्घश्च। त्रिदिवात्—स्वर्ग से। त्रयः ब्रह्माविष्णुरुद्राः दीव्यन्ति अत्र इति त्रिदिवः (त्रि + दिवु + घञ् इति रामाश्रमदीक्षितः) स्वर्ग-तस्मात्। "स्वरव्ययं स्वर्ग-नाकः त्रिदिवत्रिदशालयाः" इत्यमरः। अवातरः—उतरे थे। पृथिव्याम् अवतीर्णः इत्यर्थः। साम्प्रतम्—इदानीम्। उदूढलोकत्रितयेन--(अपने उदर में) तीनों लोकों को धारण करने वाले। लोकानां त्रितयम् (त्रि + तय) लोकत्रितयम् उदूढं (उत् + वह + कर्मणि क्त) धारितं (स्वोदरे) लोक-त्रितय येन सः तेन। त्वया--भवता। धरित्री—पृथ्वी। धारणार्थकधृञ्-धातोः औणादिक इत्र प्रत्ययः "षिद्गौरादिभ्यश्च" पा० सू० ४।१।४१ इति ङीष् च। "धरा धरित्री धरणिः" इत्यमरः। गुरुः—भाराक्रान्त (बोझिल) भारवती (गौरवशालिनी) क्रियते--कर रहे हैं। विधीयते। कृञ् धातोः कर्मणिलट् ॥३६॥

हिन्दी अनुवाद—दानवों के अत्यन्त भार से स्वयं ही भग्न होती हुई सी पृथ्वी को हल्की बनाने के लिये आप स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे किन्तु इस समय (अपने उदर में) स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल तीनों ही लोकों को धारण करने वाले आप इसे (और भी) गुरु(गौरवशालिनी)बना रहे हैं ॥३६॥

विशेष--इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है। विरोध न होकर भी यदि प्रतीत होता हो तो विरोधाभास होता है। वास्तव में विरोध के अभाव में उसकी प्रतीति श्लेष के कारण होती है। यदि कोई अनेकार्थक शब्द अनेक अर्थों के प्रकाशन के लिये एक ही बार प्रयुक्त हो तो "श्लेष" अलङ्कार होता है। विरोधाभास श्लेषमूलक होता है। उसमें अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ वास्तविक और दूसरा प्रातीतिक होता है। प्रातीतिक (जो हो न परन्तु प्रतीत हो) अर्थ के कारण ही विरोध की प्रतीति होती है। और इस प्रतीति में ही चमत्कृति है। वास्तविक अर्थ का प्रकाशन करके विरोध का परिहार (दूरीकरण) कर दिया जाता है। इस शब्द में धरित्री के विधेयरूप में प्रयुक्त गुरु शब्द अनेकार्थक है। उसके अनेक अर्थों में से यहाँ

दी अर्थ अपेक्षित हैं--भारयुक्त और गौरवयुक्त। इनमें पहला अर्थ प्रातीतिक और दूसरा वास्तविक है ॥३६॥

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ॥३७॥

सर्वङ्कषा—निजेति । निजौजसा—स्वतेजसा । जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः—कंसादयः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । तेषां उज्जासयितुम् तान्हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण—' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । 'जसु हिंसायाम्' इति चुरादिः । -महीतलं नोपाजिहीथाः यदि—नावतरेश्चेत् । 'ओहाङ् गतौ' लङि थासि रूपम् । ततः—तर्हि । समाहितैः—समाधिनिष्ठैरपि । सकर्मकादप्याशितादिवदविवक्षते कर्मणि कर्तरि क्तः । अथवा – समाहितैः । समाहितचित्तैरित्यर्थः । विभक्तधनेषु 'विभक्ता भ्रातरः' इतिवदुत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः । गम्यमानार्थस्याप्रयोग एव लोप इति कैय्यटः । अनिरूपितः—अगृहीतस्त्वमीश मादृशाम् । चर्मचक्षुषामिति भावः । विनयोक्तिरियम् । दृशः—दृष्टेः, पदं—गोचरः, कथं स्याः ? न कथञ्चिदित्यर्थः यस्मात्त्वत्साक्षात्कार एवागमनप्रयोजनमिति भावः ॥३७॥

अन्वयः—निजौजसा जगद्द्रुहां उज्जासयितुं महीतलं न उपाजिहीथाः यदि ततः समाहितैः अपि अनिरूपितः त्वं ईश ! मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ? ॥३७॥

विवृतिः—निजस्य स्वस्य आत्मन इत्यर्थ ओजः बलम् "ओजोदीप्तौ बले" इत्यमरः वचनात् निजौजः तेन निजौजसा । अपने बल से । "ओजस्" शब्दस्य तृ० वि० ए० वचने रूपम् । नपुंसकलिङ्गोऽयं शब्दः । जगद्द्रुहाम्—जगत् के द्रोहियों के । जगद्भ्यः द्रुह्यन्ति इतिजगद्द्रुहः (जगत् + द्रुह + क्विप्) कंसादयोऽसुराः तेषाम् । उज्जासयितुम्—वध करने के लिये । हिंसितुम् । उत्पूर्वकात् ताडनार्थकात् णिजन्तात् जसुधातोः तुमुन्प्रत्यये रूपम् । महीतलम्—पृथ्वीतल को । पृथ्वीतलम् । न—नैव । उपाजिहीथाः—अवतीर्ण होते । आगच्छः । ओहाङ् इति गत्यर्थकः जौहोत्यादिकः धातुः तस्य आत्मनेपदे

लङ्लकारे म० पु० ए० वचने (थासि) रूपम् । यदि—चेत् । "पक्षान्तरे चेद्यदि" इत्यमरः । ततः—र्तीह । समाहितैः—समाधि लगाने वालों के द्वारा भी । समाहितचित्तैः योगिभिरित्यर्थः । सम् आङ् पूर्वकात् धा धातोः क्तप्रत्यये निष्पन्नस्य समाहितशब्दस्य तृ० वि० व०वचने रूपम् । अपि—"गर्हा (निन्दा) समुच्चय प्रश्न शङ्कासु अपि" इत्यमरः । इह समुच्चये "अपि" इत्यस्य प्रयोगः । अनिरूपितः—साक्षात्कृत न किये गये । "रूप्" इति विमोहनार्थकः दैवादिकः धातुः निपूर्वकस्यतस्य "दर्शनम्" "अवस्थापनम्" "निर्धारणम्" वाऽर्थः । निपूर्वकात् रूपधातोः कर्मणि क्तप्रत्यये इडागमे च निरूपित इति । न निरूपतिः अनिरूपितः । "अनिरूपित" इत्यस्य वल्लभदेवेन "न दृश्यसे" इति भावार्थः विहितः । मल्लिनाथेन च "अगृहीतः" इत्यर्थः कृतः । "अगृहीतः" इत्यस्य च "अज्ञातः" इत्यभिप्राय । द्वयोरपि विदुषोः अर्थौ साधू किन्तु वल्लभदेवकृतोऽर्थः स्फुटः । त्वम्—भवान् । हे ईश ! हे विष्णो ! मादृशाम्—हम जैसों की । अहमिव पश्यन्ति ये ते मादृशः तेषाम् । दृशः—दृष्टि के । दृष्टेः । दृश् (नेत्रपर्याय) शब्दस्य ष० वि० ए० व० रूपम् । पदम्—विषय । विषयः गोचर इत्यर्थः । "पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यमरः । कथम्—कैसे ? केन प्रकारेण । स्याः—होते । भवेः । "स्याः" अस्धातोः आशीर्लिङि म० पु० ए० वचने रूपम् ॥३७॥

हिन्दी अनुवाद—अपने बल से दानवों का विनाश करने के लिये यदि आप पृथ्वीतल पर अवतीर्ण न हुए होते तो हे भगवन् ! समाधिनिष्ठों द्वारा भी साक्षात्कृत न किये गये आप मुझ जैसों के दृष्टिगोचर कैसे होते ? ॥३७॥

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥३८॥

सर्वङ्कषा—उपप्लुतमिति । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरस्तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! 'विश्ववात्तः । सञ्ज्ञायां भृतृवृजि—' इत्यादिना खच्प्रत्यये मुमागमः । **मदोद्धतैः**—कंसादिभिः—**उपप्लुतं**—पीडितम् । **अदो** विश्वं **पातुं**

त्वमेव ईशिषे—शक्तोऽसि । विश्वम्भरत्वादिति भावः । 'ईश ऐश्वर्ये' लिटि थासि रूपम् । अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह—**क्षपायास्तमस्काण्डैः**—तमोवर्गैः । "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु" इत्यमरः । 'कस्कादिषु च' इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । **मलीमसं**—मलिनम् । "मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्" इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्रा—इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः । **नभः क्षालयितुं रवेः ऋते**—रविं विना । 'अन्यारादितरर्ते—' इति पञ्चमी । **कः क्षमेत**—शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकस्येशिषे क्षमेतेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात्तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद्वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तदुक्तम्—'सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ् निर्देशे प्रतिवस्तूपमा' ॥३८॥

अन्वयः—हे विश्वम्भर ! मदोद्धतैः उपप्लुतम् । अदः विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे । क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः क्षालयितुं रवेः ऋते कः क्षमेत ?॥३८॥

विवृतिः—विश्वं बिभर्ति इति विश्वम्भरः (विश्वपूर्वकात् भृधातोः "संज्ञायां भृतॄवृजि०" पा० सू० ३।२।४६ इत्यनेन खच् प्रत्ययः "अरुर्द्विषद्०" पा० सू० ६ । ३ । ६७ इत्यनेन मुमागमश्च) तत्संबुद्धौ हे **विश्वम्भर ! मदोद्धतैः**—मदोन्मत्त । मदेन दर्पेण उद्धताः (उत् + हन् + क्त) लङ्घितमर्यादाः उच्छृङ्खला इत्यर्थः तैः । **उपप्लुतम्**—पीड़ित । उपद्रुतम् । उपपूर्वकात् गत्यर्थकात् भौवादिकात् प्लुङ् धातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः । **अदः**—इस । इदम् । **विश्वम्**—भुवनम् । "विश्वं कृत्स्ने च भुवने" इति विश्वः । **पातुम्**—रक्षितुम् । रक्षणार्थकपाधातोः तुमुन् प्रत्ययः । **त्वम्**—भवान् । **एव**—अवधारणार्थकोऽव्ययः । **ईशिषे** । समर्थ हो । समर्थोऽसि । ऐश्वर्यार्थक "ईश्" धातोः आत्मनेपदे लट्लकारे म० पु० ए० वचने (थासि) रूपम् । **क्षपातमस्काण्डमलीमसम्**—रात्रि के घने अन्धकार से मलिन । तमसः अन्धकारस्य काण्डः वर्गः समूहः तमस्काण्डः क्षपायाः रात्रेः तमस्काण्डः क्षपातमस्काण्डः तेन मलीमसम् (मलोऽस्यास्ति इत्यर्थे "ज्योत्स्ना तमिस्रा०" पा० सू० ५। २। ११४ इत्यनेन मलशब्दात् ईमस् प्रत्ययः निपात्यते) क्षपातमस्का-

ण्डमलीमसम् । नभः--आकाश को । आकाशम् । क्षालयितुम् —स्वच्छ करने के लिये । निर्मलीकर्तुम् । क्षलशौचकर्मणि इति चौरादिकधातोः तुमुन् प्रत्ययः । रवेः ऋते—सूर्य के विना । सूर्याद् ऋते । "ऋते" इति "विना" इत्यर्थे प्रयुज्यमानोऽव्ययशब्दः । तस्य योगे पञ्चमी । "रवेः" इति रवि-शब्दस्य पं० वि० ए० वचने रूपम् । कः क्षमेत् ? कौन समर्थ हो सकता है ? कः शक्नुयात् ? न कोऽपीत्यर्थः ।।३८।।

हिन्दी अनुवाद :—हे विश्वम्भर ! मद से उद्धत हुए (कंसादि) असुरों से पीड़ित इस संसार की रक्षा करने में आप ही समर्थ हैं । रात्रि के अन्ध-कारसमूह से मलिन हुए आकाश को स्वच्छ करने के लिये सूर्य के विना और कौन समर्थ हो सकता है ? ।।३८।।

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।
हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विपः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ।।३९।।

सर्वङ्कषा--करोतीति । किञ्च--जनो मृगाणामिव कंसादिम-हीभृतां वधाद्धेतोः स्तवं—स्तोत्रम् । "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः" इत्यमरः । करोति यत् । हे हरे--हे कृष्ण ! हे सिंहेति च गम्यते । सा स्तुतिक्रिया । हिरण्याक्षपुरःसराः--हिरण्याक्षप्रभृतयो येऽसुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विपः । हन्तुरित्यर्थः । तस्य तव प्रत्युत--'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्या-नात् । तिरस्क्रिया—अवमानः । यदिति सामान्ये नपुंसकम् । सेति विधेय-लिङ्गम् । गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादि-क्षुद्रनृपवधवर्णनं तिरस्कार एवेत्यर्थः । अत्रासुरद्विपानामिति हरिवद्धरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ।।३९।।

अन्वयः—जनः मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधात् तव स्तवं करोति यत् हे हरे ! सा हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विपः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया (भवति) ।

विवृतिः—जनः—संसार । लोकः । मृगाणामिव—मृगों की तरह । हरिणानामिव । कंसादिमहीभृताम्—कंस आदि राजाओं के । कंसः आदि पुरःसरः येषां ते कंसादयः महीं बिभ्रति ये ते महीभृतः (मही + क्विप् + तुक्)

कंसादयश्च—ते महीभृतः कंसादिमहीभृतः तेषाम्। कंसप्रभृतिदैत्यराज्ञाम्। वधात्—वध से। हननात्। हिंसार्थकात् हन्धातोः "हनोवधच" पा० सू० ३। ३। ७६ इत्यनेन अप् प्रत्ययः धातोश्च हनः "वध" आदेशः। वध-शब्दस्य पं० वि० ए० वचने "वधात्" इति। तव—भवतः। स्तवम्–स्तुति को। स्तुतिम्। ष्टुञ् धातोः "ऋदोरप्" पा० सू० ३। ३। ५७ इत्यनेन अप् प्रत्ययः। "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिः नुतिः" इत्यमरः। करोति—करता है। विदधाति यत्। सा—स्तुतिः। हे हरे!—हे श्री श्रीकृष्ण! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः—हिरण्याक्ष आदि असुर रूपी हाथियों के मारने वाले। हिरण्याक्षः हिरण्यकशिपोः ज्येष्ठभ्राता पुरःसरः येषां ते हिरण्याक्षपुरःसराः ते च ते असुराः हिरण्याक्षपुरःसरासुरा त एव द्विपाः (द्वि+पा+क) गजाः तान् द्वेष्टि इति हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विट् तस्य। तव—तुम्हारी। भवतः। प्रत्युत—अपितु। तिरस्क्रिया—निन्दा। तिरस्कारः निन्देत्यर्थः ॥३९॥

हिन्दी अनुवाद :—संसार में जो मूर्गों के से कंसादि राजाओं के वध के कारण आपकी स्तुति करता है हे श्री श्रीकृष्ण! हिरण्याक्ष आदि असुर रूपी हाथियों के मारने वाले आपकी यह स्तुति नहीं प्रत्युत (बल्कि) निन्दा है ॥३९॥

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

सर्वङ्कषा—प्रवृत्त इति। त्वम्—उज्झितश्रमः—त्यक्तश्रमः सन्। क्रमेण—भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः—दुष्टास्तेषां पेष्टुम्। तान्हिंसितु-मित्यर्थः। 'जासिनिप्रहण—' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। स्वयम्—अपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि। एवं तर्हि पिष्टपेषणं किमिति चेत्तत्राह—तथापि—स्वतः प्रवृत्तेऽपि, मिथो—रहसि त्वदाभाषणे—त्वया सह संलापे लोलुपं—लुब्धम्। "लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ" इत्यमरः। मनो मां वाचालतया सह युनक्ति। वाचालं करोतीत्यर्थः। वाचो बह्वयोऽस्य सन्तीति वाचालः। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इत्यालच्। "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्" इत्यमरः ॥४०॥

अन्वयः—उज्भितश्रमः (सन्) क्रमेण भुवनद्विषां पेष्टुं स्वयम् एव प्रवृत्तः असि तथापि मिथः त्वदाभाषणलोलुपं मनः मां वाचालतया युनक्ति ॥४०॥

विवृतिः—**उज्भितश्रमः**—त्याग दिया गया है श्रम जिसके द्वारा (श्रमहीन)। उज्भितः (उत्+भ+क्त) परित्यक्तः श्रमः खेदः येन सः ब० व्री० समासः। **क्रमेण**—क्रमशः। **भुवनद्विषाम्**—संसार के विनाश करने वालों को। भुवनानि द्विषन्ति इति भुवनद्विषः (भुवन+द्विष्+क्विप्)तेषाम्। **पेष्टुम्**—चूर करने के लिये। चूर्णीकर्तुम्। **स्वयमेव**—केनाप्यनियुक्तोऽपीत्यर्थः। **प्रवृत्तः**—संलग्न। रतः। **असि**—हो। वर्तसे। **तथापि**—दैत्यवधरूपिणि कर्मणि प्रवर्तनस्य निष्प्रयोजनत्वेऽपि। **मिथः**—एकान्त में। रहसि। **त्वदाभाषणलोलुपम्**—तुम्हारे साथ बातें करने के लिये लुब्ध। त्वया सह यद् आभाषणं तस्मिन् लोलुपम् (अतिलुब्धम्)। **मनः**—चेतः। **माम्**—मुझको। नारदम्। **वाचालतया**—वाचालता से। वाचः कुत्सिताः अस्य सन्ति इति वाचालः (वाच्+आलच्) "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्" इत्यमरः। वाचालस्य भावः वाचालता (वाचाल+तल्+टाप्) तया। **युनक्ति**—युक्त कर रहा है। सम्बध्नाति ॥४०॥

हिन्दी अनुवाद—युद्ध के खेद से रहित होकर क्रम से संसार के विनाश करनेवाले दैत्यों को चूर्णित करने में आप स्वयं ही प्रवृत्त हैं फिर भी एकांत में आपके साथ वार्तालाप करने के लिये लुब्ध मेरा मन मुझको वाचालता से युक्त कर रहा है ॥४०॥

> **तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते ।**
> **समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ॥४१॥**

सर्वङ्कषा—तदिति। तत्—तस्मादिन्द्रमुपगतः उपेन्द्रः—इन्द्रावरजः। अत एवेन्द्रसन्दिष्टम् श्रोतव्यमिति भावः। किञ्च—विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' यद्वचः क्षणं ननु चिरं मयोच्यते, तत्—वचोऽहिद्विषो—वृत्रघ्नः।'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती।

समस्तकार्येषु धुर्यतां—धुरंधरत्वं गतेन। **अतोऽपि भवता निशम्यताम्।**
प्रार्थनायां लोट्। धुरं वहतीति धुर्यः। 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। स्फुटमत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥४१॥

अन्वयः—तत् हे उपेन्द्र! इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यत् वचः क्षणं मया उच्यते तद् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतेन भवता निशम्यताम् ॥४१॥

विवृतिः—**तत्**—तस्मात् कारणात्—इसलिये। **उपेन्द्र !**—हे कृष्ण, इन्द्रो देवराजः तम् उपगतः उपेन्द्रः तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र! "उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः" इत्यमरः। इन्द्रमातुः अदितेः उदरात् दैत्यराजस्य बलेः श्रियम् आदातुं भगवान् विष्णुः अजायत। इन्द्राच्च पश्चाद् अजायत अतः "उपेन्द्र" इति शब्द्यते। **इन्द्रसन्दिष्टम्**—इन्द्रद्वारा सन्देशरूप में कहे हुए, इन्द्रः देवराजः तेन सन्दिष्टम् (सम + दिश् + क्त) इन्द्रसन्दिष्टम्। **विश्वजनीनम्**—सभी के कल्याण के लिये, विश्वे च ते जनाः विश्वजनाः तेभ्यः हितं विश्वजनीनम् (विश्वजन + ख तस्यच ईनादेशः) "वचः" इत्यस्य विशेषणम्। "विश्व" शब्दः संसारपर्यायवाची सर्वपर्यायवाची च, इह सर्वपर्यायवाची। **यद्वचः**—जो वचन। **क्षणम्**—क्षणभर। "इन्द्रसन्दिष्ट यद्वचः अहं वक्ष्ये तस्य श्रवणेन अधिककालव्ययः" इति "क्षणम्" इत्यनेन ध्वन्यते। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया" पा० सू० २। ३। ५, इत्यनेन द्वितीया। **मया**—मुझ नारद द्वारा। **उच्यते**—कहा जा रहा है। व्यक्तवचनार्थक ब्रूञ् धातोः कर्मणि लटि रूपम्। "ब्रू" इत्यस्य "वच्" आदेशः तस्य च सम्प्रसारणत्वेन "व" इत्यस्य "उ" इत्यादेशः। **तत्**—वह—यत् इत्यनेन यस्य परामर्शः कृतः। **अहिद्विषः**—इन्द्र का, अहिं देवशिल्पिनः त्वष्टुः पुत्रं वृत्रनामानम् असुरं द्वेष्टि इति अहिद्विट् (अहि + द्विष् + क्विप्) इन्द्रः (नतु गरुडः) "सर्पे वृत्राऽसुरेऽप्यहिः" इति वैजयन्तीकोषप्रमाणेन अहिशब्दस्य वृत्रासुरेऽपि प्रयोगात् तस्य द्वेष्टा च इन्द्र एव। ऋग्वेदे **"दास पत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्"** इत्यस्यां ऋचि मेघेऽहिशब्दप्रयोगः। **प्रकृते वृत्र**

एवार्थेऽहिशब्दः प्रयुक्तः। समस्तकार्येषु—समग्र कार्यों में। समस्तानि च तानि कार्याणि समस्तकार्याणि तेषु। धुर्यताम्—धुरन्धरत्व। "धूः" यानस्य अग्रभागः तां वहति इत्यर्थे धुरशब्दात् "धुरो यड्ढकौ" पा० सू० ४।४।४७, इत्यनेन यत् प्रत्यये निष्पन्न धुर्यशब्दात् भावे तल् प्रत्यये टाप् प्रत्यये च "धुर्यता" इति। ताम् "धूर्वहे धुर्य धौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः" इत्यमरः। यद्यपि "धुर्य" शब्दः यानाग्रभागे नियोजिते वृषभे अश्वे वा प्रयुज्यते परन्तु लोके तौ इव कार्यभारवाहकः महापुरुषोऽपि "धुर्य" इत्युच्यते। गतेन—प्राप्त। गम्धातोः क्त प्रत्यये निष्पन्न "गत" शब्दस्य तृ० वि० ए० वचन-रूपम्। भवता—आपके द्वारा। श्रीकृष्णरूपेण अवतीर्णेन विष्णुनेत्यर्थः। निशम्यताम्—सुना जाय। नि पूर्वक "शम्" धातुः श्रवणार्थकः ततः कर्मणि लोटि यकि च रूपम् अस्य च "श्रूयताम्" इत्यर्थः ॥४१॥

हिन्दी अनुवाद :—हे उपेन्द्र ! इन्द्र द्वारा सन्देश रूप में कथित जिस सर्वजन-हितकारी वचन को मैं कहता हूँ उसे वृत्रशत्रु के समग्र कार्यों में धुरीणता को प्राप्त आप सुनें ॥४१॥

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥४२॥

सर्वङ्कषा—अभूदिति। प्रतिपक्षात्—शत्रोः जन्म यासां तासां भियामभूमिः —अविषयः। निर्भीक इत्यर्थः। तपनद्युतिः—सूर्यतापो, दिते-स्तनूजो—दैत्योऽभूत्। कोसावत आह—हरेः—इन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थनिषू-दनम्। इन्दतीति इन्द्रः। 'इदि परमैश्वर्ये' 'ऋजेन्द्र—' इत्यादिना रन्प्रत्ययांत औणादिकनिपातः। तस्य इन्द्र इति शब्दस्येन्द्र इति सञ्ज्ञापदस्य, योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणस्तस्य निषूदनं–निवर्तकम्। कर्तरि ल्युट्। हरेरैश्वर्यनिहन्तार-मित्यर्थः। यं—दैत्य, हिरण्यशब्दपूर्वं कशिपुशब्दं प्रचक्षते। हिरण्यकशिपु-माहुरित्यर्थः। अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्वं कशिपुशब्दस्यैव ननु सञ्ज्ञिनस्तदर्थस्ये-तिशब्दपरस्य कशिपुशब्दस्य कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगाद-वाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः। 'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति।

समाधानम्—एवंविधविषये शब्दपरेणार्थलक्षणेति कथञ्चित्सम्पाद्यमित्युक्त-मस्माभि'र्देवपूर्वं गिरिं ते' इति 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' इत्येतद्‌व्याख्यानावसरे सञ्जीविन्यां घण्टापथे च। विशेषश्चात्र—यं दैत्यमुद्दिश्य हिरण्य-
र्वं कशिपुं प्रचक्षते—सञ्ज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते ॥४२॥

अन्वयः—प्रतिपक्षजन्मनां भियाम् अभूमिः तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभूत्, हरेः इन्द्रशब्दार्थनिपूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥४२॥

विवृतिः—प्रतिपक्षजन्मनाम्—शत्रुवर्ग से उत्पन्न होने वाले। प्रतिकूलः पक्षः शत्रुवर्ग इत्यर्थः प्रतिपक्षः तस्माज्जन्म उत्पत्तिः यासां ताः तासाम्। भियाम्—भीतियों (भयों) का। भीतीनामित्यर्थः। "दर त्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः। भयार्थकञिभीधातोः क्विप् प्रत्यये "भीः" इति तस्य षष्ठीबहुवचने रूपम्। अभूमिः—जो विषय पात्र अथवा स्थान नहीं है। भूमिः भाजनं विषयः स्थानं वा न भूमिः अभूमिः अविषयः निर्भीक इत्यर्थः। तपनद्युतिः—सूर्य के समान दीप्तिमान्। तपनः सूर्यः तस्य द्युतिः इव द्युतिः यस्य सः तपनद्युतिः सूर्यसमप्रभः इत्यर्थः। दितेः—दिति का। दितिः दैत्यमाता तस्याः। तनूजः—पुत्र। पुत्रः। तन्वाः जातः तनूजः (तनू + जनि + ड) आत्मज इत्यर्थः। अभूत् - हुआ। भूधातोः लुङि प्र० पु० ए० वचने रूपम्। हरेः—इन्द्र के। हरति असुरश्रियम् इति हरिः इन्द्रः तस्य। "हरि" इत्ययं शब्दः बह्वर्थकः इह इन्द्रे प्रयुक्तः। इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्। इन्द्रत्व को नष्ट करने वाले। परमैश्वर्यार्थक भौवादिक "इदि" धातोः "ऋजेन्द्र" उणादि सू० २। २८ इत्यनेन रन् प्रत्यये इदित्वात् नुमागमे च "इन्द्र" इतिशब्दः सिद्ध्यति तस्य च परमैश्वर्यवत्वम् इत्यर्थः। तद् यः निषूदयति (मल्लिनाथमते निवर्तयति) सः इन्द्रशब्दार्थनिपूदनः (नि + षूद + ल्युट्) तम्। यम्—जिसको। दितितनूजम्। हिरण्यपूर्वम्—"हिरण्य" शब्द है पूर्वखण्ड जिसका ऐसे। "हिरण्य" इत्ययं शब्द पूर्वः पूर्वभागः यस्य तम्। कशिपुम्—कशिपु। उत्तरभागस्थं कशिपुम्। प्रचक्षते—कहते हैं। व्यक्तवचनार्थकात् चक्षिङ् धातोः लट् लकारे प्र० पु०

ब० वचने रूपम् । अस्य ब्रुवते वदन्ति वेत्यर्थः । "पुराविदः" इति कर्तृपदम् प्रसंगादेव लभ्यते ॥४२॥

हिन्दी अनुवाद :—शत्रुओं के उत्पन्न भय से मुक्त, सूर्य के समान तेजस्वी एक दैत्य हुआ । इन्द्र के इन्द्र शब्दार्थ (परमैश्वर्य) को नष्ट करने वाले जिस (दैत्य) को इतिहास के विद्वान् "हिरण्यकशिपु" कहते हैं ॥४२॥

समत्सरेणाऽसुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥४३॥

सर्वङ्कषा—समत्सरेणेति । समत्सरेण—अन्यशुभद्वेषसहितेन । "मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे" इत्यमरः । अस्यतीत्यसुरः । असेरुरन् । असुर इति नाम्नः चिराय—चिरकालेन । "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः" इत्यमरः । प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा—अन्वर्थतां गतेन । तरस्विना—बलवता । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । येन—हिरण्यकशिपुना । दिवि सीदन्तीति द्युसदां—देवानां, मनस्सु भयस्य पूर्वावतारः—प्रथमप्रवेशः । 'ऋदोरप्' । न्यधीयत—निहितः । धाञः कर्मणि लङ् । अस्मादेव देवानां प्रथमं भयस्योत्पत्तिरभूदित्यर्थः ॥४३॥

अन्वयः—समत्सरेण "असुर" इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदां मनःसु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत ॥४३॥

विवृतिः—समत्सरेण—दूसरों के अभ्युदय को न सह सकने वाले । अन्याभ्युदयासहिष्णुता मत्सरः तेन सहितः समत्सरः तेन समत्सरेण इतरशुभद्वेषवता इत्यर्थः । "असुर" इतिनाम्नः—"असुर" इस नाम के । सुरः (पुर + क) देवः न सुरः असुरः । हेतु प्रकरण प्रकाश समाप्तिप्रभृतिषु अर्थेषु, "इति" शब्दः प्रयुज्यते । इह प्रकाशे (द्योतने) प्रयोगः । नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थः अनेन इति नाम संज्ञा तस्य । प्रथमाभिधेयताम्—प्रथमवाच्यता को । अभिधीयते उच्यते इति अभिधेयः वाच्यः तस्य भावः अभिधेयता प्रथमा या

अभिधेयता सा प्रथमाभिधेयता ताम्। उपेयुषा—प्राप्त करने वाले । उपेयिवस् शब्दस्य तृतीयैकवचनरूपम् । तरस्विना—वेगशाली । तरस (वेग:) अस्यास्ति तरस्वी वेगवान् इत्यर्थ: तेन । तरस्विन्शब्दस्य तृतीयैकवचनरूपम्। येन—जिसके द्वारा । हिरण्यकशिपुना । द्युसदाम्—स्वर्ग लोक में रहनेवालों अर्थात् देवताओं के। दिवि स्वर्गे सीदन्ति ये ते द्युसद: (दिव + षद् + क्विप्) तेषाम् । मन:सु—मन में । मानसेषु । "स्वान्तं हृन्मानसं मन:" इत्यमर: । भयस्य—भय का । भीते: पूर्वावतर:—प्रथमप्रवेश । पूर्वश्चासौ अवतर: (अव + तृ + अप्) पूर्वावतर: । प्रथम: प्रवेश इत्यर्थ: । न्यधीयत—स्थापित किया । नि पूर्वक "धा" धातो: कर्मणि लङि रूपम् । तस्य च अस्थाप्यत इत्यर्थ: ॥४३॥

हिन्दी अनुवाद :—दूसरों के अभ्युदय से द्वेष रखने वाले, "असुर" इस संज्ञा से सर्वप्रथम बोधित होनेवाले जिस वेगशाली ने स्वर्गलोक में निवास करने वाले देवताओं के मन में भय की पहले-पहल स्थापना की ॥४३॥

दिशामधीशांश्चतुरो यत: सुरानपास्य तं रागहृता: सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रिय: ॥४४॥

सर्वङ्कषा--दिशामिति । श्रिय:—सम्पदो यत: । यदेत्यर्थ: । दिशामधीशान्—दिक्पतीनपि । चतुर: सुरान्—इन्द्रवरुणयमकुबेरान्, अपास्य—त्यक्त्वा, तं हिरण्यकशिपुं । रागहृता:—रागकृष्टा: सत्य: । नतु बलादिति भाव: । सिषेविरे । यतो वीरप्रिया: श्रिय इति भाव: । तत आरभ्य तदाप्रभृति । अयश: करोतीति—अयशस्करम् । दुष्कीर्तिहेतुमित्यर्थ: । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु—' इति ट प्रत्यय: । 'अत:कृकमि—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । उच्चै:—प्रचुरं, चला:—अस्थिरा इति प्रवादं—जनापवादमवापु: । दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात्तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भाव: ॥४४॥

अन्वय:—श्रिय: दिशाम् अधीशान् चतुर: सुरान् अपास्य तं रागहृता:

(सत्यः) यतः सिषेविरे ततः आरभ्य अयशस्करं "चलाः" इति उच्चैः प्रवा-दम् अवापुः ॥४४॥

विवृतिः—श्रियः—सम्पत्तियाँ। लक्ष्मी, सम्पत्ति, विभूति, शोभा, उपकरण, वेशरचना प्रभृतिषु अर्थेषु "श्री" शब्दः प्रयुज्यते। प्रकृते सम्पत्तौ प्रयोगः। दिशाम्—दिशाओं के। शकारान्तः "दिश्" शब्दः (पाणिनिमते) तस्येदं ष० वि० ब० वचनरूपम्। आचार्यभागुरिमते तु "दिशा" इत्येव प्रयुज्यते। अधीशान्—अधिपतियों को। इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, कुबेर तथा ईशान अर्थात् भगवान् शिव ये क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर तथा ईशान आदि दिशाओं के स्वामी हैं। चतुरः सुरान्—चार देवताओं को। चतुरशब्दस्य द्वितीया-बहुवचने चतुरः इति सुरशब्दस्य च द्वितीया ब० वचने "सुरान्" इति च रूपम्। अष्टौ दिशाम् अधीशाः उक्ताः। परन्तु केचित् पूर्वां दक्षिणाम् पश्चिमाम् उत्तरामेव च दिशः मन्यन्ते दिशाम् अन्तरालान् विदिशः इति। तेषां मते चतस्रः दिशः। तेषाम् अधीशाः चत्वारः सुराः इन्द्रयमवरुणकुबेरा एव तान्। अपास्य—छोड़ करके। अप पूर्वकात् क्षेपणार्थकात् "असु" धातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च ल्यबादेशे रूपम्। तम्—उसको। हिरण्यकशिपुम् इत्यर्थः। रागहृताः—अनुराग के द्वारा आकृष्ट की गयी। रागः अनुरागः तेन हृताः वशम् आनीताः। यतः—जब से। यस्मात् कालादित्यर्थः। सिषेविरे—सेवा करने लगीं। सेवयामासुः। षेवृ धातोः लिट्लकारे प्र० पु० ब० वचने रूपम्। ततः आरभ्य—तब से लेकर। तस्मात् कालाद् आरभ्य (आङ् + रभ + क्त्वा + ल्यप्) अयशस्करम्—अकीर्तिकारी। न यशः अयशः तत्करोति इति अयशस्करः (अयश + कृ + ट) अकीर्तिकरः तम्। चलाः—चपल अथवा अस्थिर। इति—ऐसे। उच्चैः प्रवादम्—जोरों की लोकनिन्दा को। प्रपूर्वक वद्धातोः भावे घञि "प्रवाद" इति तस्य च निन्देत्यर्थः। अवापुः—प्राप्त हुईं। लेभिरे। अवपूर्वक आप्लृधातोः लिट् लकारे प्र० पु० ब०वचने रूपम् ॥४४॥

हिन्दी अनुवाद :—राजलक्ष्मियाँ दिशाओं के अध्यक्षों चार देवताओं

अर्थात् इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर को छोड़कर उस हिरण्यकशिपु के अनुराग द्वारा आकृष्ट होकर जब से सेवा करने लगीं तब से अकीर्ति को उत्पन्न करने वाले "ये अस्थिर हैं" ऐसे महान् लोक-निन्दा को प्राप्त हुईं ।।४४।।

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ।।४५।।

सर्वङ्कषा —पुराणीति । किञ्च—नाकिनां—सुराणां, गणैः यं—हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य—बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य, स कालः आदिर्यस्मिंस्तदादि तत्—तदाप्रभृति । स्वरूपशोभैवैकं फलं मुख्यं प्रयोजनं येषां तेषां पुरादीनां तानि यथोक्तानि । प्रागीदृगसाध्यशत्रोरभावादिति भावः । 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना नपुंसकशेषः । पुराणि दुर्गाणि—प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे । 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः । आयुधं निशातं—निशितं चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः । 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' इतीत्वविकल्पात्पक्षे आत्वम् । बलानि—सैन्यानि । शूराणि—शौर्यवन्ति, चक्रिरे—सम्पादितानि । कञ्चुकाः वारबाणाः । लोहवर्माणीत्यर्थः "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः । घनाः दुर्भेदाश्चक्रिरे । इत्थं नित्यसन्नद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः ।।४५।।

अन्वयः—नाकिनां गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि दुर्गाणि चक्रिरे आयुधं निशातम् (चक्रे) बलानि शूराणि (चक्रिरे) कञ्चुकाः घनाः (चक्रिरे) ।।४५।।

विवृतिः—नाकिनां गणैः देवताओं के समूहों अर्थात् देवताओं ने । कं सुखं, न कम् अकं दुःखं, नास्ति अकं यत्र सः नाकः स्वर्गः सः आश्रयत्वेन अस्ति येषां ते नाकिनः (नाक + इनि) देवाः तेषाम् । गणैः समूहैः । यम्—जिस हिरण्यकशिपु की । आशङ्क्य—आशङ्का करके । "सोऽस्माकं नगरं प्रविश्य अस्मान् पीडयिष्यति" इति आशङ्कां कृत्वा । तदादि—तब से । सः कालः आदिः यस्मिन् तत् तदादि तदारभ्य इत्यर्थः ।

स्वरूपशोभैकफलानि—स्वरूप के कारण होने वाली शोभामात्र प्रयोजन वाले। स्वरूपेण या शोभा सैव एकं फलं येषां तानि। पुराणि—नगर। नगराणि "पूः पुरी नगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्" इत्यमरः। दुर्गाणि—दुर्गम अर्थात् जिस पर शत्रु आक्रमण न कर सके ऐसा। दुःखेन गम्यते यत्र तानि दुर्गाणि (दुर् + गम् + ड) परिखाप्राकारप्रभृतिभिः युक्तानि। चक्रिरे—किया। विदधिरे। "कृ" धातोः कर्मणि लिट्लकारे अन्य-पुरुष बहुवचनरूपम्।

"चक्रिरे" इत्येतत् क्रियापदम् अत्र श्लोके दुर्गाणि, निशातम् शूराणि चेति त्रिभिः विधेयपदैः विभक्तिविपरिणामेन अन्वेति। आयुधम्—शस्त्र। आयुध्यन्तेऽनेन इत्यायुधम् (आङ् + युध् + घञर्थे क)। निशातम्—तीक्ष्ण। नपूर्वकात् तनूकरणार्थकात् शोधातोः क्त प्रत्यये "शाच्छोरन्यतरस्याम्" पा० सू० ७।४।४१, इत्यनेन "शो" इत्यस्य आकारान्तत्वे रूपम्। बलानि—सेनायें। "बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्" इत्यमरः। शूराणि—शौर्ययुक्त। पराक्रमवन्ति इत्यर्थः। कञ्चुकाः—लौहवर्म। "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्रि" इत्यमरः। घनाः—दुर्भेद्य। दृढाः इत्यर्थः ॥४५॥

हिन्दी अनुवाद :—देवताओं के समूहों ने जिसकी आशङ्का करके उसी समय से अपने नगरों को (खाँई तथा चहारदिवारी आदि से) दुर्गम, (शत्रुओं द्वारा अजेय) सेनाओं को पराक्रमयुक्त, शस्त्र को तीक्ष्ण तथा कवचों को सुदृढ़ बनाया ॥४५॥

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥४६॥

सर्वङ्कषा—स इति। अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु। 'सुप्सुपा' इति समासः। सञ्चरिष्णुः—सञ्चरणशीलः। 'अलङ्कृञ्—' इत्यादिना चरेरिष्णुच्। श्रियः—लक्ष्म्याः, आश्रयः स—हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया—स्वैरवृत्त्या। "यदृच्छा स्वैरवृत्तिः" इत्यमरः। यां दिशमशिश्रियत्—अगमत्। श्रयतेर्लुङ्। 'णिश्रि—' इत्यादिना चङि द्विर्भावः। इयङादेशः। मुकुटोप-

लेषु—मौलिरत्नेषु—स्खलन्तः करा येषां तैः। शिरसि वद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। तिस्रो दशा वाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैस्त्रिदशैर्देवैः। यद्वा त्रिर्दशपरिमाणमेषामिति—'वहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजवहुगणात' इति समासान्तः। तिस्रः सन्ध्याः समाहृतास्त्रिसन्ध्यम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद'—इत्यादिना समाहारे द्विगुः। 'द्विगुरेकवचनम् वा टावन्त' इति पक्षे नपुंसकत्वम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तस्यै दिशे करैर्हस्तैः। 'नमः स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी। नमः—नमस्कारोऽकारि—कृतः। कृञः कर्मणि लुङ्। 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिण्। सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं परित्यज्य तदागमनभयात्तस्यै दिशे नमस्कारः कृत इति भावः ॥४६॥

अन्वयः—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रियः आश्रयः सः यदृच्छया यां दिशम् अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं तस्यै दिशे नमः अकारि ॥४६॥

विवृतिः—भुवनान्तरेषु—लोकों में। अन्यानि च तानि भुवनानि भुवनान्तराणि तेषु। अथोजगतीलोको विष्टपं भुवनं जगत्" इत्यमरः। सञ्चरिष्णुः—विचरण करने वाला। सम्पूर्वकात् गत्यर्थकात् चरधातोः ताच्छिल्ये "अलं कृञ्" पा० सू० ३। २। १३६ इत्यनेन इष्णुच् प्रत्यये निष्पन्न सञ्चरिष्णुशब्दस्य प्र० वि० ए० वचने रूपम्। श्रियः—राजलक्ष्मी का। श्रीः शोभायां सम्पदि देव्यां च रमायां प्रयुज्यते। प्रकृते सम्पदि प्रयोगः श्रीशब्दस्य। "श्रियः" इति षष्ठ्येकवचनरूपं श्रीशब्दस्य। आश्रयः—आधार अथवा अवलम्ब। आश्रीयते वासार्थं त्राणार्थं वेति (आश्रयः आङ्+श्रिञ्+अच्) आधारः। "विषय आशये (आश्रये)" इत्यमरः। सः—वह (हिरण्यकशिपु)। यदृच्छया—स्वेच्छानुसार। "यदृच्छा स्वैरवृत्तिः" इत्यमरः। याम्—जिस। पूर्वादिषु कामपि। अशिश्रियत्—जाता था। णिजन्तात् श्रिञ् धातोः लुङि प्र० पु० ए० वचने रूपम्। मुकुटोपलस्खलत्करैः—मुकुटों में जटित मणियों से संघृष्ट हाथों वाले। मुकुटेषु (शोभार्थं जटिताः)

ये उपला: बहुमूल्यमणय: तेषु स्खलन्त: लुठन्त: करा: हस्ता: येषां ते तैः। त्रिदशैः—देवताओं द्वारा। तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषां ते त्रिदशाः देवा: तैः। "देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः। त्रिसन्ध्यम्—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीनों सन्ध्या समय में। तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः त्रिसन्ध्यम्। प्रातः मध्याह्न सायम् इति तिस्रः सन्ध्याः। आसु तिसृष्वपि। तस्यै दिशे—उस दिशा को। नमः—नमस्कार। अकारि—किया जाता था। व्यधायि। कृञ् धातोः भावे लुङि रूपम् ॥४६॥

हिन्दी अनुवादः—सभी भुवनों में भ्रमण करने वाला राजलक्ष्मी का आधार वह हिरण्यकशिपु अपनी इच्छा से जिस दिशा की ओर भी जाता था, मुकुट-मणियों से स्पृष्ट होते हाथों से देवता लोग तीनों सन्ध्याओं के समय उस दिशा को नमस्कार किया करते थे ॥४६॥

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥४७॥

सर्वङ्कषा—सटाच्छटेति हे नृसिंह! ना सिंह इवेत्युपमितसमासः। ना चासौ सिंहश्चेति प्रस्तावात्। सिंहस्येमां सैंहीं तनुं—कायं। बिभ्रता—नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः। किम्भूताम्? अतनुं—विस्तीर्णाम्। अत एव सटाच्छटाभिः—केसरसमूहैः। भिन्ना घना—मेघा येन। अभ्रङ्कषविग्रहत्वादिति भावः। 'सटा जटाकेसरयोः' इति 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः। त्वया स—दैत्यः। मुग्धौ—नवौ। 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती। यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेनापि भङ्गुरः—कुटिलैर्नखैरुरोविदारम्—उरो विदार्य। 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्प्रत्ययः। प्रतिचस्करे—हतः। किरतेः कर्मणि लिट्। 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः। 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुडागमः। वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचरमहिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ॥४७॥

अन्वय—हे नृसिंह! अतनुं सैंहीं तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया सा मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारं प्रतिचस्करे ॥४७॥

विवृतिः—हे नृसिंह—हे नृसिंह ! ना चासौ सिंहः ना सिंह इव वा नृ सिंहः तत् सम्बुद्धौ हे नृसिंह ! येन भगवता विष्णुना नृसिंहावतारः धृतः तेनैव कृष्णावतारोऽपि धृतः तस्मात् अवतारभेदेऽपि अवतारिणः अनैक्यात् भगवति कृष्णेऽपि "नृसिंह" इति सम्बोधनं युक्तमेव "नृसिंह" इत्यत्र च उपमितकर्मधारयसमासः। **अतनुम्**—विशाल। "तनुः काये कृशेऽल्पे च" इति विश्वकोषप्रमाणात् अल्पेऽपि अर्थे "तनु" शब्दप्रयोगः। न तनुः अतनुः ताम्। **सैंहीम्**—सिंह सम्बन्धी अथवा सिंह के। सिंहस्य इयमिति सैंही (सिंह+अण+ङीप्) ताम्। **तनुम्**—शरीर को। **विभ्रता**—धारण करते हुए। धारयता। भरणार्थक भृञ् धातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न विभ्रत् इत्यस्य तृतीयैकवचनरूपम्। **सटाच्छटाभिन्नघनेन**—जटाकलाप से मेघ-समूह को तितर-वितर करने वाले। सटानां जटानां छटाभिः संहतिभिः भिन्नाः अपसारिता घनाः मेघाः येन सः सटाच्छटाभिन्नघनः तेन। **त्वया**—आपके द्वारा। **सः**—वह उक्त वीर हिरण्यकशिपु। **मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः**—अभिनव यौवना कामिनियों के कुचों के स्पर्श से भी वक्र हो जाने वाले अर्थात् अतीव कोमल। मुग्धाः अभिनवाः याः कान्ताः वध्वः तासां ये स्तनाः कुचाः तेषां संगः सम्पर्कः स्पर्श इति यावत् तेनापि भङ्गुराः वक्राः तैः कोमलतमैः अपीत्यर्थः। **नखैः**—नखों के द्वारा। करुहैः। **उरोविदारम्**—वक्ष प्रदेश को फाड़कर। वक्षःप्रदेशं विदार्य यथा स्यात् तथा। उरस्पदपूर्वकात् विपूर्वकाच्च "दृ" धातोः णमुल् प्रत्ययः। "उरोविदारम्" इति च "प्रतिचस्करे" इति क्रियापदस्य विशेषणम्। **प्रतिचस्करे**—मार डाला गया। हतः। प्रतिपूर्वकात् लवन (छेदन) रूपेऽर्थे वर्तमानात् रौधादिक "कृ" धातोः कर्मणि लिट्लकारः। "हिंसायां प्रतेश्च" पा० सू० ६। १। १४१ इत्यनेन सुडागमः ॥४७॥

हिन्दी अनुवाद:—हे नृसिंह ! विशाल नृसिंह शरीर को धारण करते हुए अपने सटासमूह (स्कन्ध प्रदेश के बालों) से मेघों को विदारित करने वाले अपने उस हिरण्यकशिपु को अपने अभिनव यौवनाओं युवतियों के स्तनों के स्पर्श से भी वक्र हो उठने वाले अर्थात् कोमल-कोमल नखों से वक्षःप्रदेश फाड़कर मार डाला ॥४७॥

भावार्थ :—इतने विशालकाय और महापराक्रमशाली असुर के वज्र सदृश कठोर हृदय को आपने अपने अतीव कोमल नखों से फाड़कर मार डाला। इतने कोमल शस्त्र से आपने इतने वलवान् और सुदृढ़ शरीर वाले असुर का वध किया। भगवन्! आपकी महिमा असीम है ॥४७॥

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥४८॥

सर्वङ्कषा—विनोदमिति। अथ स—हिरण्यकशिपुः। पुनः—भूयोऽपि, त्रिदशैः समं—सह 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः। रणेन—दर्पादन्तःसाराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्ड्वाः—भुजकण्डूतेर्विनोदमपनोदमिच्छन्। प्राग्भवनखक्षतैस्तदपनोदाभावादित्यर्थः। दिवः—स्वर्गस्य। क्षतं—नष्टं रक्षणं रक्षा येन तत्। क्षतद्युरक्षणमित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम्। भीषयते इति भीषणः। नन्द्यादित्वाल्ल्युः। 'भियो हेतुभये षुक्' निकामं भीषणः। 'सुप्सुपा—' इति समासः। रावणो नाम—रावण इति प्रसिद्धं, रक्षो बभूव। राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः। विश्रवसोऽपत्यं पुमान्रावण इति विग्रहः। 'तस्यापत्यम्—' इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ—' इति प्रकृते रवणादेशः। पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति। तदुक्तमुत्तरकाण्डे—'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्। तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥' इति। रौतेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट्। रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद्विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ॥४८॥

अन्वयः—अथ सः पुनः त्रिदशैः समम् रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदम् इच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षः बभूव ॥४८॥

विवृतिः—अथ—इसके पश्चात्। आनन्तर्यवाची अव्ययशब्दः। "नृसिंहेन त्वया उरोविदारं मृत्युं प्रापिते" इति "अथ" इत्यस्य अत्र प्रासंगिकोऽर्थः। सः—वह अर्थात् हिरण्यकशिपु। त्रिदशैः समं—देवताओं के साथ। साकम्, सार्धम्, समम् प्रभृतयः "सह" पर्यायवाचिनोऽव्ययशब्दाः

एतैः योगे तृतीयाविभक्तेः नियमः । **रणेन**—युद्ध के द्वारा । **दर्पजन्मनः**—अभिमानजनित । दर्पोऽभिमानः तस्माज्जन्म उत्पत्तिः यस्याः सा तस्याः । **कण्ड्वाः**—खुजलाहट का । कण्डूतेः । **विनोदम्**—दूरीकरण । वि पूर्वकात् प्रेरणार्थक णुद् धातोः भावे घञि "विनोद" इति तस्य च भाषायां मनोरञ्जनरूपार्थे प्रयोगः परन्तु तस्य "अपसारणम्" इति प्रासंगिकोऽर्थः । "विनोदम्" इति च द्वितीयैकवचनरूपम् । **इच्छन्**—चाहता हुआ । इच्छार्थक "इष्" धातोः शतृप्रत्ययः वाञ्छन् । **दिवः**—स्वर्ग का । "दिव्" इति स्वर्गपर्यायवाची हलन्तस्त्रीलिङ्गशब्दः । तस्येदं षष्ठ्येकवचनरूपम् । **क्षतरक्षणम्**—नष्ट कर दिया है रक्षाकर्म जिसने ऐसा । क्षतं (क्षणु + क्त) नष्टं रक्षाकर्म येन तत् । रक्षःविशेषणम् । **निकामभीषणम्**—अत्यन्त भयानक । भीषयते भयमुत्पादयति इति भीषणम् (भी + णिच् + युच् + पुक्) निकामम् अतीव भीषणं निकामभीषणम् अतिभयानकम् इत्यर्थः । **रावणो नाम**—"रावण" ऐसा प्रसिद्ध । इह "नाम" इति न नामार्थकः अपितु प्रसिद्धरूपेऽर्थे प्रयुज्यमानोऽव्ययशब्दः । निपातत्वात् "स्वरादिनिपातमव्ययम्" पा० सू० १ । १ । ३७, इति नियमादव्ययः । **रक्षः**—राक्षस । राक्षसपर्यायवाची "रक्षस्" इति नपुंसकलिङ्गः शब्दः तस्येदं प्रथमैकवचनरूपम् । **बभूव**—हुआ । सत्तार्थक भूधातोः लिट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥४८॥

हिन्दी अनुवाद :—इसके पश्चात् वह फिर से देवताओं के साथ युद्ध के द्वारा अभिमानजनित कण्डू (खुजली) को दूर करने की इच्छा करता हुआ स्वर्ग को (अनाथ नगरी की तरह) रक्षा-शून्य बना देने वाला अत्यन्त भयानक रावण नाम से प्रसिद्ध राक्षस हुआ ॥४८॥

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः ।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४९॥

सर्वङ्कषा—प्रभुरिति । यो रावणः भुवनत्रयस्य **प्रभुः**—स्वामी **बुभूषुः**—भवितुमिच्छुः । भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः । **अतिरागात्**—उत्साहात्,

नतु फलविलम्बेन निर्वेदादिति भावः। **दशमं शिरः चिकर्तिषुः**—कर्तितुं छेत्तुमिच्छुः। 'कृती छेदने' इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः। **इष्टसाहसः**—प्रियसाहसः। अत एवेच्छासदृशम्—इच्छानुरूपं, पिनाकिनः प्रसादं - वंर विघ्नमिवाऽतर्कयदुत्प्रेक्षितवानिति परमसाहसिकत्वोक्तिः। इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य 'स रावणो नाम रक्षो बभूवे'ति पूर्वेणान्वयः।

रंगराजस्तु—'न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्' इति उपरिष्टादन्वय इत्याह तदसत्। 'गुणानां च परार्थत्वात्' इति न्यायादारुण्यादिवत्प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः सम्बन्धायोगादित्यलं शाखाचङ्क्रमणेन। पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांस्यग्नौ हुत्वा दशमारम्भे सन्तुष्टात्तस्य त्रैलोक्याधिपत्यं वव्रे इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ॥४९॥

अन्वयः—यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागात् दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादं विघ्नम् इव अतर्कयत् ॥४९॥

विवृतिः—**यः**—जो अर्थात् रावण। **भुवनत्रयस्य**—तीनों लोकों का। त्रयोऽवयवा अस्य इति त्रयम् (त्रि + अयच्) भुवनानां त्रयम् भुवनत्रयम्। लोकत्रितयमित्यर्थः तस्य। **प्रभुः**—स्वामी। प्रभवति निग्रहानुग्रहयोः इति प्रभुः प्रपूर्वकात् भूधातोः कर्तरि "विप्रसम्भ्योड्वसंज्ञायाम्" पा० सू० ३। २। १८०, इत्यनेन "डु" प्रत्ययः। **बुभूषुः**—होने की इच्छा करने वाला। सन्नन्तात् भूधातोः "सनाशंसभिक्षउः" पा० सू० ३। २। १६८, इत्यनेन उ प्रत्यये निष्पन्न "बभूषु" शब्दस्य प्र० विभक्तेः एकवचने रूपम्। **अतिरागात्**—अत्यन्त उत्साह के कारण। "भक्त्यतिशयात्" इति वल्लभदेवः, "उत्साहात्" इति च मल्लिनाथः। **दशमं शिरः चिकर्तिषुः**—दशवाँ शिर काटने के लिये इच्छुक। 'नव शिरांसि छित्त्वा बलिरूपेण भगवते रुद्राय समर्प्य भक्त्याधिक्यमूलकोत्साहात् अवशिष्टं दशममपि शिरः छेत्तुमिच्छुः। **इष्टसाहसः**—साहस है प्रिय जिसको। हिताहितमविचार्य कर्मसु प्रवर्तनं साहसः सः इष्टः प्रियः यस्य सः। **इच्छासदृशम्**—इच्छानुकूल। इच्छायाः अभिलाषायाः सदृशः अनुरूपः इच्छासदृशः तम्। **पिनाकिनः**—भगवान्

शिव के। "पिनाकः अस्यास्ति" इत्यर्थे पिनाकशब्दात् मत्वर्थीये इनिप्रत्यये निष्पन्नपिनाकिन् शब्दस्य षष्ठ्येकवचनरूपम्। भगवतः शिवस्य धनुषः "पिनाकः, अजगवः" इति च द्वे नामनी। प्रसादम्—वरदान को। वरदान-रूपमनुग्रहम्। प्रपूर्वकात् पद्लृधातोः भावे घञि "प्रसाद" इति तस्य द्वितीयैकवचने रूपमिदम्। "प्रसादोऽनुग्रहे" इति मेदिनी। विघ्नम्—बाधा। विहननम्। इष्टसिद्धौ बाधा विघ्नः (वि + हन् + क) तम् "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः। इव—समान। अतर्कयत्—माना। व्यचारयत्। चौरादिकतर्कधातोः लङि प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥४९॥

हिन्दी अनुवाद :—त्रिभुवन का स्वामी होने की इच्छा करते हुए भक्त्याधिक्यमूलक उत्साह से (नव शिरों को बलि के रूप में अर्पित करने के पश्चात् बचे हुए) दशम शिर को (बलि रूप में अर्पित करने के लिये ही) काटने के इच्छुक साहसप्रिय जिस रावण ने भगवान् शिव के इच्छानुरूप वरदानरूपी अनुग्रह को विघ्न के सदृश समझा ॥४९॥

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतासस्म्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥५०॥

सर्वङ्कषा—समुत्क्षिपन्निति। यो—रावणः पृथिवीभृतां—पर्वतानां, वरं—श्रेष्ठ कैलासं। समुत्क्षिपन्—दर्पादिति शेषः। शूलिनो वरप्रदानस्य—पूर्वोक्तस्य। त्रसन्त्याः शैलचलनेन बिभ्यत्यास्तुषाराद्रिसुतायाः—पार्वत्याः—ससंभ्रमो यः स्वयङ्ग्रहः—प्रियप्रार्थनां विना कण्ठग्रहणम्। 'सुप्सुपा—' इति समासः। तेन आश्लेषः—सम्मेलनं तेन यत्सुखं तेन। त्रैलोक्याधिपत्य-सुखादुत्कृष्टेनेति भावः। निष्क्रयं—प्रत्युपकारनिर्गतिं—चकार। 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती। यद्वा—निष्क्रयं चकार—क्रयेण व्यवहारेण याञ्चादोषदैन्यं ममार्जेत्यर्थः। अत्र सुखवरदान-योर्विनिमयात्परिवृत्तिरलङ्कारः ॥५०॥

अन्वयः—यः पृथ्वीभृतां वरं समुत्क्षिपन् शूलिनः वरप्रदानस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुताससंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयं चकार ॥५०॥

विवृतिः—यः—जो अर्थात् रावण। **पृथ्वीभृतां वरम्**—पर्वतों में श्रेष्ठ। पृथ्वीं बिभ्रति ये ते पृथ्वीभृतः पर्वताः तेषां वरः श्रेष्ठः तम्—कैलासमित्यर्थः। निर्धारणे षष्ठी। **समुत्क्षिपन्**—उठाता हुआ। सम्‌उत्पूर्वकाच्च क्षेपणार्थक क्षिप् धातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न "समुत्क्षिपत्" इति तस्य प्रथमैकवचने रूपम्। तस्य च "उत्थापयन्" इत्यर्थः। **शूलिनः**—भगवान् शिव के। शूलं शस्त्रविशेषः तदस्यास्ति इति शूली (शूल + इनि) तस्य। **वरप्रदानस्य**—वर प्रदान का। व्रियते इति वरः (वृञ् + अप्) स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनं दानम् (दा + ल्युट्) प्रकृष्टं दानं प्रदानम् वरस्य प्रदानं वरप्रदानं तस्य। **त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन**—डरती हुई पार्वती के हड़बड़ाहटपूर्वक स्वयं किये गये आलिंगन के सुख के द्वारा। तुषारः हिमः तस्य (अवयवावयविभावे षष्ठी) अद्रिः पर्वतः तुषाराद्रिः हिमवान् इत्यर्थः। तस्य सुता तुषाराद्रिसुता, त्रसन्ती चासौ तुषाराद्रिसुता त्रसत्तुषाराद्रिसुता तस्याः संभ्रमेण सहितः यः स्वयं (शिवप्रयत्नमन्तरेणैव) ग्रहः ग्रहणं तेन यः आश्लेषः आलिंगन तेन यत् सुखं (तृप्तिः) तेन। **निष्क्रयम्**—ऋणशोधन। "निष्कृतिम्" इति वल्लभदेवः। "प्रत्युपकारनिर्गतिम्" इति च मल्लिनाथः। ऋणशोधनं निष्क्रयः कृतस्य प्रत्युपकरणं वा विनिमयो वा। प्रकृते विनिमय एवार्थः साधीयान्। अतः "निष्क्रयम्" इत्यस्य "विनिमयम्" इति सुधाटीकाकृतोऽर्थः अपि युक्त एव ॥५०॥

हिन्दी अनुवाद:—जिस रावण ने पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास को ऊपर उठाते हुए भगवान् शिव के वरप्रदान का (कैलास पर्वत के हिलने-डुलने के कारण) डरती हुई पार्वती के संभ्रमपूर्वक (हड़बड़ाहट के साथ) अपने-आप लिपटने से हुए कण्ठालिंगनजनित सुख के द्वारा बदला चुकाया ॥५०॥

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हराऽमराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥५१॥

सर्वङ्कषा—पुरीमिति। यो **बली**—बलवान्रावणो **नमुचिद्विषा**—इन्द्रेण **विगृह्य**—विरुध्य **पुरीम्**—अमरावतीम्। **अवस्कन्द**—अवरुरोध।

नन्दनम्—इन्द्रवनम् । "नन्दनं वनम्" इत्यमरः । **लुनीहि**—चिच्छेद । 'ईह-ल्यघोः' इतीकारः । **रत्नानि**—श्रेष्ठवस्तूनि मणीन् वा । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । **मुषाण**—मुमोष । 'मुष स्तेये' । 'हलः श्नः शानज्झौ' इति श्नः शानजादेशः । **अमराङ्गनाः**—**हर**—जहार । सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः । **इत्थम्**—अनेन प्रकारेण । अहनि च दिवा च—अहर्दिवम् । अहन्यहनीत्यर्थः । 'अचतुर—' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः । **दिवः**—स्वर्गस्य । **अस्वास्थ्यमुपद्रवं चक्रे** । अत्रावस्कन्देत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् । तस्य यथोपग्रहं सर्वतिङादेशो हिस्वौ च । प्रकरणादिनात्वर्थविशेषावसानम् । 'अतो हेः' इति यथायोग्यं हिलुक् । पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणां समुच्चयः क्रियासमभिहारः । तत्सामान्यस्य करोतेः 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' इत्यनुप्रयोगः 'चक्रे' इति । अत्र तिङ्वैचित्र्यात्सौशब्दाख्यो गुणः । 'सुपां तिङां परावृत्तिः सौशब्दम्' इति लक्षणात् । समुच्चयश्चालङ्कारः ॥५१॥

अन्वयः—बली यः नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर, इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे ॥५१॥

विवृतिः—**बली**—बलवान् । बलम् अस्यास्ति इति बली (बल + इनि) **यः**—जो । **नमुचिद्विषा**—इन्द्र से । नमुचिम् एतन्नामानम् असुरं द्वेष्टि इति नमुचिद्विट् तेन । नमुचिद्विष् शब्दस्य तृतीयैकवचनरूपम् । **विगृह्य**—वैर करके । विरुध्य वैरं विधाय इत्यर्थः । वि पूर्वकात् ग्रहधातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च ल्यबादेशे रूपमिदम् । **पुरीम्**—नगरी (अमरावती) को । **अवस्कन्द** घेरा । गतिशोषणयोः वर्तमानस्य स्कन्दिरधातोः रूपम् । **नन्दनम्**—नन्दनवन को । देवोद्यानम् । **लुनीहि**—काटा । चिच्छेद । छेदनार्थक लुञ्धातोः रूपम् । **रत्नानि**—रत्नों को । मणिमुक्तादीनि श्रेष्ठवस्तूनि । **मुषाण**—चुराया (लूटा) । चोरयामास । स्तेयार्थक मुष्धातोः रूपम् । **अमराङ्गनाः**—देवयुवतियों को । अमराः देवाः तेषाम् अङ्गनाः वध्वः अमराङ्गनाः ताः । **हर**—

बलपूर्वक अपने अधिकार में किया। हरणार्थक हृञ् धातोः रूपम्। इह पद्ये यद्यपि "अवस्कन्द, लुनीहि, मुषाण, हर" प्रभृतीनि क्रियापदानि लोट्लकारस्य मध्यमपुरुषैकवचनरूपाणि परन्तु इह "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्" पा० सू० ३। ४। ३, कालसामान्ये पुरुषसामान्ये वचनसामान्ये च एतेषां प्रयोगः। प्रकृते परोक्षानद्यतन भूतकाले अन्यपुरुषैकवचने चैतेषां प्रयोगो वोध्यः। इत्थम्--इस प्रकार। अनेन प्रकारेण। अहर्दिवम्—प्रतिदिन। अहनि च दिवा चेति अहन्यहनि इत्यर्थः। दिवः--स्वर्ग का। अस्वास्थ्यम्--अनिष्ट। स्वस्मिन् तिष्ठति वर्तते इति स्वस्थः न स्वस्थः अस्वस्थः तस्य भावः अस्वास्थ्यम् (नञ् + स्वस्थ + ष्यञ्) उपद्रवमित्यर्थः। चक्रे—किया। चकार। "चक्रे" इति अनुप्रयोगः अनेनैवेह भूतकालस्य कर्तृकारकस्य अन्यपुरुषैकवचनस्य च अनुगमः ॥५१॥

हिन्दी अनुवाद :—जिस बलशाली रावण ने नमुचिशत्रु इन्द्र से वैर करके अमरावती को घेरा, नन्दनोद्यान को काटा, रत्नों को लूटा, देववधुओं का अपहरण किया (और) इस प्रकार प्रतिदिन स्वर्ग में उपद्रव मचाया ॥५१॥

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम्।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥५२॥

सर्वङ्कषा—सलीलेति। संयति—युद्धे। "समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजि समिद्युधः" इत्यमरः। येन—रावणेन अनुद्रुतोऽनुधावितः। बलस्य शत्रुः—इन्द्रः। अभ्रमोर्भर्तुः—ऐरावतस्य, सलीलयातानि—सभङ्गीकगमनानि, न प्रशशंस। तथा उच्चैःश्रवसः—स्वाश्वस्य। चित्रं—नानाविधं, पदक्रमं—पादविक्षेपम्। अर्धपुलायितादिगतिविशेषमित्यर्थः। न प्रशशंस किन्तु केवलं शीघ्रतां—शीघ्रगामित्वमेव। प्रशशंस। अन्यथा शीघ्रं मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भावः ॥५२॥

अन्वय :—संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस, उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमं न (प्रशशंस), केवलं शीघ्रतामेव (प्रशशंस) ॥५२॥

विवृतिः—संयति—युद्ध में। युद्धे रणभूमौ इत्यर्थः। संयत् इति युद्ध-पर्यायवाची स्त्रीलिङ्गः तकारान्तः शब्दः तस्य सप्तम्येकवचनरूपम्। येन—जिस बलवान् रावण के द्वारा। अनुद्रुतः—खदेड़ा गया, पीछा किया गया। अनुधावितः। अनुपूर्वकात् गत्यर्थक "द्रु" धातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः। बलस्य शत्रुः—इन्द्र ने। "बल" एतन्नामा ऐतिहासिकोऽसुरः। इन्द्रः तं जघान तस्मात् असौ तस्य शत्रुः उच्यते। अभ्रमोः भर्तुः—ऐरावत के। "अभ्रमु" एतन्नाम्नी काचित् सुरहस्तिनी तस्याः भर्ता (भृ+तृच्) क्षीरसमुद्रमन्थन-समुद्भूतः ऐरावतो नाम सुरगजः तस्य। सलीलयातानि—लीलापूर्ण चालों को। लीलया सहितानि सलीलानि सलीलानि च तानि यातानि (प्रापणा-र्थक "या" धातोः भावे क्त प्रत्ययः) सलीलयातानि। सविलासगतीः। न प्रशशंस—नहीं सराहा। न श्लाघयामास। प्रपूर्वकात् स्तुत्यर्थक "शंसु" धातोः लिट् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। उच्चैःश्रवसः—उच्चैः-श्रवस् के।। "उच्चैस्" इति उन्नतार्थकोऽव्ययशब्दः "श्रवस्" इति च कर्णपर्यायवाची सकारान्तः नपुंसकलिङ्गः शब्दः। उच्चैः श्रवो यस्य सः उच्चैःश्रवाः (बहुव्रीहिसमासः) तस्य। चित्रम्—विविध प्रकार के। आश्चर्ये आलेख्ये कर्बुरे (लोके "चितकराब" इति प्रसिद्धे) "चित्र" शब्दस्य प्रयोगः—इह "अनेकविधम्" इति अस्य प्रासंगिकोऽर्थः। पदक्रमम्—चरणक्षेप को। पदानां क्रमः क्षेपः पदक्रमः तम्। "न प्रशशंस" इति क्रियापदम् अत्रापि योज्यम्। केवलम्—एकमात्र। एकाम्। "निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः" इत्यमरः। शीघ्रताम्—तेजी को। तीव्रगामित्वम् ॥५२॥

हिन्दी अनुवाद :—रणभूमि में जिससे खदेड़ा जाकर इन्द्र ने ऐरावत की लीला-युक्त गति तथा उच्चैःश्रवस् के अनेक रीति के चरणक्षेपों की नहीं किन्तु तीव्रगामीपन की ही प्रशंसा की ॥५२॥

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥५३॥

सर्वंङ्कषा—अशक्नुवन्निति । अधीरलोचनः—अस्थिरदृष्टिः । कौशिकः—महेन्द्रः, उलूकश्च । "महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः" इत्यमरः । सहस्ररश्मेः—सूर्यस्येव यस्य—रावणस्य विक्रमकर्मणः, दर्शनं सोढुमशक्नुवन् । हेमाद्रेर्गुहैव गृहं तस्यान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् तत्रापि वेपमान एव । बिभेतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । दिवसानि—वासराणि । निनाय । "वा तु क्लीबे दिवसवासरौ" इत्यमरः । यथा पेचकः सूर्योदये भीतः सन्तिष्ठति तथा सोऽपीति भावः । कौशिक इत्यभिधायाः प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेपेऽपि विशेष्यश्लेपासम्भवादुलूकविषयशब्दशक्तिमूलो ध्वनिः—सहस्ररश्मेरिवेत्युपमाननिर्वाहकत्वाद्वाच्यसिद्धयङ्गम् ॥५३॥

अन्वयः—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय ॥५३॥

विवृतिः—अधीरलोचनः—अधीर नेत्रों वाले । धीरे धैर्यान्विते न धीरे अधीरे अधीरे लोचने यस्य सः । कौशिकः—इन्द्र (उल्लू को भी कौशिक कहते हैं) कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान् कौशिकः (कुशिक+अण्) विश्वामित्रः इतरो वा ·तत्सगोत्रः प्रकृते तु "कौशिक" इति शब्दः इन्द्रपर्यायवाची । अमरकोषानुसारेण कौशिकशब्दः कुशिकगोत्रापत्यरूपाद् व्यतिरिक्तेषु "महेन्द्र, गुग्गुल, उलूक, व्यालग्राहिप्रभृतिष्वपि अर्थेषु प्रयुज्यते । सहस्ररश्मेः इव—सूर्य के से । सहस्रं सहस्रसंख्याकाः रश्मयः किरणाः यस्य सः तस्य । इवेति समानार्थकोऽव्ययशब्दः । यस्य—जिसके अर्थात् रावण के । दर्शनम् – दर्शन को । विलोकनम् । दर्शनार्थकदृश्धातोः भावे ल्युट् प्रत्ययः । सोढुम्—सहन करने के लिये । मर्षणार्थक षहधातोः तुमुन् प्रत्ययः । अशक्नुवन्—असमर्थ होते हुए । शक्त्यर्थक शक्लृधातोः शतृ प्रत्ययः । हेमाद्रिगुहागृहान्तरं—सुमेरु पर्वत के कन्दरा रूपी गृह के भीतर । हेम्नोऽद्रिः पर्वतः हेमाद्रिः सुमेरुः तस्य गुहा कन्दरा एव गृहं हेमाद्रिगुहागृहं तस्य अन्तरम् अभ्यन्तरम् तत् । प्रविश्य—प्रविष्ट हो करके । प्रविष्टो भूत्वा । प्रपूर्वक विशधातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च ल्यबादेशे रूपमिदम् । बिभ्यत्—

डरते हुए। त्रासमनुभवन्। भयार्थक "भी" धातोः शतृप्रत्ययः। अभ्यस्तत्वात् नुमोऽभावः। दिवसानि—दिनों को। दिनानि। "घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ" इत्यमरः। निनाय—व्यतीत किया। अयापयत्। प्रापणार्थक णीञ् धातोः लिट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥५३॥

हिन्दी अनुवाद :—अधीर नेत्रों वाले इन्द्र ने सूर्य के से तेजस्वी जिस रावण के दर्शन को सहन करने में असमर्थ होते हुए सुमेरु पर्वत के कन्दर रूपी गृह के भीतर प्रविष्ट होकर डरते हुए (संकट के) दिनों को व्यतीत किया ॥ ५३ ॥

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥५४॥

सर्वङ्कषा—बृहच्छिलेति। बृहति शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनात् अभिघातात्—विकीर्णा विक्षिप्ताः लोलाश्चाग्निकणाः स्फुलिङ्गा यस्य तत्। अत एव अप्रसहिष्णु—अनभिभावकम्। प्रसहनमभिभव इति वृत्तिकारः। 'अलङ्कृञ्—इत्यादिना इष्णुच्। वैष्णवं चक्रं—सुदर्शनं जगत्प्रभोः सकललोकैकस्वामिनः। अस्य सुरद्विषो—रावणस्य। कन्धरायामधि अधिकन्धरम्—अधिग्रीवम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। "कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि" इत्यमरः। नाक्रमत—अप्रतिहतं न क्रमते स्म न प्रवर्तते स्म। किन्तु प्रतिहतमेवेत्यर्थः। 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इति वृत्तावात्मनेपदम्। वृत्तिरप्रतिबन्धः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रं जगत्प्रभोः अस्य सुरद्विषः अधिकन्धरं न अक्रमत ॥५४॥

विवृतिः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्—विशालकाय शिला के से कठोर कण्ठ में रगड़ खाने से। बृहती चासौ शिला बृहच्छिला सा इव निष्ठुरः (नि + स्था + औणादिक कुरच् उपसर्गात् सुनोति० पा० सू० ८।३।६५, इत्यनेन षत्वं च) कठोर इत्यर्थः बृहच्छिलानिष्ठुरः स चासौ कण्ठः तत्र घट्टनं

घर्षणं तस्मात्। **विकीर्णलोलाग्निकणम्**—बिखरे हैं चपल अग्नि-कण जिससे ऐसा। अग्नेः कणाः स्फुलिंगाः अग्निकणाः। लोलाः चंचलाश्च ते अग्निकणाः लोलाग्निकणाः विकीर्णाः विक्षिप्ताः लोलाग्निकणाः यस्मात् तत्। **अप्रसहिष्णु**—असहनशील। सहते क्षमते इति सहिष्णु (षह + इष्णुच्) असहनशीलम् इत्यर्थः। प्रकर्षेण सहिष्णु प्रसहिष्णु न प्रसहिष्णु अप्रसहिष्णु। **वैष्णवम्**— भगवान् विष्णु का। वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वम् इति विष्णुः नारायणः तस्येदं वैष्णवम् (विष्णु + अण्)। **चक्रम्**—सुदर्शन नाम का चक्र (एक अस्त्र विशेष)। **जगत्प्रभोः**—संसार के अधिनायक। प्रभवति निग्रहानुग्रहयोः इति प्रभुः स्वामी जगतां प्रभुः जगत्प्रभुः तस्य। **अस्य सुरद्विषः**—इस देवशत्रु के। सुरान् द्वेष्टि इति सुरद्विट् तस्य। देवशत्रोः रावणस्येत्यर्थः। **अधिकन्धरम्**—गले में। कन्धरायाम् अधि अधिकन्धरम् ग्रीवायामित्यर्थः। **न अक्रमत**—न प्रवर्तते स्म। क्रमधातोः लुङ् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥५४॥

हिन्दी अनुवाद :—बड़े से पाषाणखण्ड की तरह कठोर गले में टकराने से निकलती हुई चञ्चल चिनगारियों वाला असहनशील (अत्यन्त उग्र) भगवान् विष्णु का चक्र संसार के अधिनायक इस देवशत्रु रावण की गर्दन में नहीं घुस सका ॥५४॥

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥ ५५॥

सर्वङ्कषा—विभिन्नेति। स रावणो **मदेन**—दर्पेण, इभदानेन च। "मदो दर्पेभदानयोः' इति विश्वः। **दन्तीव**—गज इव। **विभिन्नो**—विघट्टितः **शङ्खो**—निधिभेदः, कम्बुश्च येन सः सन् 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च' इति विश्वः। अकलुषं कलुषं क्षुब्धमाविलं च भवत्—**कलुषीभवत्**। **निरस्तगाम्भीर्यम्**—निरस्तम् अपगतम् अविकारित्वं अगाधत्वं च यस्य तत्। अपास्तानि पुष्पाणि, पुष्पकं विमानं च यस्मात्तत्। पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप्प्रत्ययः। मनुष्यस्येव धर्मः—श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी। तस्य मनुष्य-

धर्मणः। 'धर्मादनिच्केवलात्' इत्यनिच्। मानसं—चित्तं, तदीयं सरश्च। 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः। मुहुर्न कम्पयामास न—न क्षोभयामासेति न, किन्तु कम्पयामासैवेत्यर्थः। कुबेरस्य महामहिमतया सम्भाविताऽप्रकम्पितत्व-निवारणाय नञ्द्वयम्। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः। अत्र दन्तिरावणयोः प्रकृताऽप्रकृतयोः श्लेषः ॥५५॥

अन्वयः—सः मदेन दन्ती इव विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन् निरस्त-गाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकं मनुष्यधर्मणः मानसं मुहुः न प्रकम्पयामास इति न ॥५५॥

विवृतिः—सः—वह (रावण)। मदेन—अहङ्कार के कारण। अहङ्कारेण। (हाथी के पक्ष में) मदजल के कारण। हस्तिपक्षे मदजलेन। दन्तीव—ऐरावत गज की तरह। प्रशस्ताः दन्ताः अस्य सन्ति इति दन्ती (दन्त + इनि) ऐरावतो नाम देवगजः स इव। विभिन्नशङ्खः—विनष्ट किया है शङ्ख नामक निधि को जिसने। विभिन्नः शङ्खः शङ्ख-नामा निधिः येन सः। (हाथी के पक्ष में "विदलित किया है अर्थात् रौंदा है शङ्खों को जिसने") हस्तिपक्षे विभिन्नाः विदलिताः शङ्खाः कम्बवः येन सः। अतएव। कलुषीभवत्—(मन के पक्ष में) क्षुब्ध हुए। (मान-सरोवर के पक्ष में) मलिन होते हुए। इस श्लोक में "मानस" पद श्लेष अलङ्कार की प्रणाली में 'मन' और मानसरोवर, इन दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। साथ ही "विभिन्नशङ्खः" यह विशेषण उपमान (हाथी) और उपमेय (रावण) दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जिस पक्ष में "विभिन्नशङ्ख" पद उपमेय अर्थात् रावण के अर्थ में प्रयुक्त होता है उस पक्ष में "मानसम्" पद मन (यक्षराज कुबेर के मन) के अर्थ में प्रयुक्त होता है और जिस पक्ष में "विभिन्नशङ्ख" पद उपमान अर्थात् हाथी (ऐरावत हाथी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है उस पक्ष में "मानसम्" पद मान-सरोवर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मन पक्ष में—"कलुषीभवत्" पद का अर्थ "क्षुब्ध होते हुए" और मानस पक्ष में "मलिन होते हुए" होगा।

अकलुषं कलुषं भवत् इति कलुषीभवत् (कलुष + च्वि)। अत्र श्लोके "मानसम्" इति मनसः (यक्षराजस्य मनसः) मानससरसः उभयोः अपि बोधकम्। यत् पक्षे "विभिन्नशङ्खः" इति विशेषणपदम् उपमेय-(रावण) पक्षे पर्यवस्यति तत्पक्षे "मानसम्" इति मनःबोधकम्। तत्रपक्षे "कलुषीभवत्" इत्यस्य क्षुब्धं भवदित्यर्थः। यत्र पक्षे च "विभिन्नशङ्खः" इति विशेषणपदम् उपमानपक्षे (ऐरावतगजपक्षे) पर्यवस्यति तत् पक्षे कलुषीभवदित्यस्य आविलं भवदित्यर्थः। **निरस्तगाम्भीर्यम्**—(मन के पक्ष में) दूर हो गयी है प्रसन्नता जिससे। (मानसरोवर पक्ष में) दूर हो गयी है गम्भीरता अर्थात् अगाधता जिससे। निरस्तं (निर् + असु + क्त) गाम्भीर्य (गम्भीर + ष्यञ्) यस्मात् तत्। गाम्भीर्यमित्यस्य मनःपक्षे अवि-कारित्वं मानससरसः पक्षे अगाधत्वं च अर्थः। **अपास्तपुष्पकम्**—(मन-पक्ष में) दूर कर दिया गया है पुष्पक विमान जिससे। (मानसरोवर पक्ष में) दूर कर दिये गये हैं कमल जिससे। अपास्तं दूरीकृतं पुष्पकं नाम विमानं यस्मात् तत् मनः पक्षे एवमर्थः। मानसरसः पक्षे तु अपास्तानि पुष्प-कानि कमलानि यस्मात् तत् इत्येवमर्थः। पुष्पपक्षे वैकल्पिककप्प्रत्ययः। **मनुष्यधर्मणः**—कुबेर के। मनुष्यस्येव धर्मः यस्य सः मनुष्यधर्मा (मनुष्य-धर्म + अनिच्) तस्य कुबेरस्येत्यर्थः। "मनुष्यधर्मा धनदः राज-राजो धना-धिपः" इत्यमरः। **मानसम्**—मन अथवा मानस नामक सरोवर को। मनः एतन्नामकं सरश्च। "मानसं सरसि स्वान्ते" इति विश्वः। **मुहुः**—बार-बार। "मुहुस्" इति पौनःपुन्यवाची अव्ययशब्दः। "मुहुः पुनःपुनः शश्वद-भीक्ष्णमसकृत्समाः" इत्यमरः। **न प्रकम्पयामास इति न**—नहीं कँपाया ऐसा नहीं अर्थात् अवश्य कँपाया। प्रपूर्वक कम्पधातोः लिट् लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम्। नञ्द्वयस्य दार्ढ्यार्थकतया "अवश्यमेव प्रकम्पयामास" इत्यर्थः ॥५५॥

हिन्दी अनुवाद :—मद के (आविर्भाव के) कारण (उन्मत्त होकर) जिसने शङ्खों को फोड़ा है ऐसे हाथी (ऐरावत) की तरह अहङ्कार के कारण जिसने (यक्षराज के) शङ्ख नामक निधि को छीन लिया है ऐसे

रावण ने, जो (आलोड़ित कर देने के कारण) मलिन हो रहा है, जिसकी गहराई नष्ट कर दी गयी है और जिसके पुष्प (कमल) नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये हैं ऐसे मानस सरोवर की तरह जो क्षुब्ध सा हो रहा है, जिसकी गम्भीरता दूर सी कर दी गयी है और जिसका पुष्पक नामक विमान छीन लिया गया है, कुवेर के ऐसे मानस (मन)को वार-बार नहीं कम्पित किया ऐसा नहीं अर्थात् अवश्य किया ॥५५॥

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तु रेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥

सर्वङ्कषा —रणेष्विति । किंच —रणेषु प्रचेतसा—वरुणेन, प्रहिताः—प्रयुक्ताः । उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः । नागपाशा इत्यर्थः । तस्य–रावणस्य । सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृता व्यावर्तिताः । अतएव सभयाः सत्यः । जवेन—वेगेन । प्रहर्तुः—प्रयोक्तुः प्रचेतस एव, कण्ठं प्रपेदिरे—प्राप्ताः । अत्र परहिंसाप्रयुक्तस्यायुधस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठ-ग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्' इति लक्षणात् ॥५६॥

अन्वयः—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः तस्य सरोषहुङ्कार-पराङ्मुखीकृताः सभयाः जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठं प्रपेदिरे ॥५६॥

विवृतिः—रणेषु—युद्धों में । प्रचेतसा—वरुणदेव के द्वारा । प्रकृष्टम् उन्नतं चेतः यस्य सः प्रचेताः वरुणः तेन । "प्रचेता वरुणः पाशी" इत्यमरः । प्रचेतस्शब्दस्य तृतीयाविभक्तेः एकवचने रूपम् । प्रहिताः—प्रयुक्त । प्रपूर्वकस्य गत्यर्थकस्य "हि" धातोः कर्मणि क्त प्रत्यये रूपम् । उरगराज-रज्जवः—नागपाश । उरसा हृदयेन वक्षोभागेन गच्छन्ति ये ते उरगाः (उरस + गम् + ड) नागाः सर्पाः इत्यर्थः तेषां राजानः श्रेष्ठाः ते एव रज्जवः वन्धनाः उरगराजरज्जवः । नागपाशाः इत्यर्थः । पाश एव वरुणस्य अस्त्रम् अतएव सः पाशी इत्युच्यते । तस्य—उस रावण के । सरोषहुङ्-कारपराङ्मुखीकृताः—रोषयुक्त हुङ्कार से लौटाये गये । रोषः अमर्षः

क्रोध इत्यर्थः तेन सहितः सरोषः स चासौ हुङ्कारः तेन पराङ्मुखी (पराङ्-मुख + च्वि) कृताः प्रत्यावर्तिताः। अतएव सभयाः—भयाकुल। भयेन सहिताः सभयाः भीताः (नागपाशाः) जवेन—वेग के साथ। जवो वेगः तेन। प्रहर्तुः एव—प्रहार करने वाले के ही अर्थात् वरुणदेव के ही। प्रहरति प्रहारं करोति अस्त्रादिना इति प्रहर्ता (प्र + हृ + तृच्) तस्य। वरुणस्येत्यर्थः। एवेत्यवधारणार्थकोऽव्ययः। **कण्ठम्**—गले में। गलप्रदेशम्। **प्रपेदिरे**—जा लगे। सम्प्राप्ताः लग्नाः इत्यर्थः। प्रपूर्वकस्य गत्यर्थकस्य पद् धातोः लिट् लकारे प्र० पु० ब० वचने रूपम् ॥५६॥

हिन्दी अनुवाद :—युद्धों में वरुणदेव द्वारा प्रयुक्त किये गये नागपाश रावण के क्रोधयुक्त हुङ्कार द्वारा लौटाये जाकर भयभीत होकर स्वयं वरुणदेव के ही कण्ठ में जाकर लिपट जाते थे ॥५६॥

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥५७॥

सर्वङ्कषा—परेतभर्तुरिति। अमुना—रावणेन, धनुः—शार्ङ्गम्, विधातुं—निर्मातुमुत्खातमुत्पाटितं विषाणयोः - शृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य स परेतभर्तुर्यमस्य महिषः। वाहनभूत इति भावः। भारे—विषाणरूपे। भृञो घञ्। हृतेऽपि, महतस्त्रपैव भरस्तस्मात्। ततोऽपि दुर्भरादिति भावः। भृधातोः क्रैयादिकात् 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः। भृशमत्यर्थमानतं नम्रं शिरो दुःखेनोवाह—वहति स्म। 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्त्वात् 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः। तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेतुत्वसाधर्म्यात् त्रपाभारत्वोत्प्रेक्षा ॥५७॥

अन्वयः—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृतेऽपि महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरः दुःखेन उवाह ॥५७॥

विवृतिः—अमुना—इस रावण के द्वारा। अदस्शब्दस्य तृ० विभक्तेः एकवचने रूपम्। धनुः—धनुष्, चापम्। "धनुष" इत्ययं षकारान्तः नपुंसकलिङ्गः शब्दः। इह "धनुः" इति तस्य द्वितीया विभक्तेः एक-

वचनरूपम् । विधातुम्--बनाने के लिये । निर्मातुम् । वि पुर्वक धा धातोः तुमुन् प्रत्ययः । उत्खातविषाणमण्डलः—उखाड़ लिये गये हैं सींग जिसके । उत्खातं (उत् + खन् + क्त कर्मणि) उत्पाटितं विषाणयोः शृङ्गयोः मण्डलं वलयः यस्य सः । बहुव्रीहि समासः । परेतभर्त्तुः—यमदेव का । बिभर्ति इति भर्त्ता (भृ + तृच्) परेतानां प्रेतानां भर्ता परेतभर्ता यमराजः तस्य । परेतभर्तृ-शब्दस्य प० वि० एकवचने रूपम् । महिषः—भैंसा । सैरिभः यमस्य महिष एव वाहनः । भारेहृतेऽपि—सींग का भार दूर कर दिये जाने पर भी । शृङ्ग-भारे दूरीकृतेऽपि । हरणार्थक हृधातोः कर्मणि क्त प्रत्ययः । भावलक्षण सप्तमी । त्रपाभरात्—लज्जा के भार से । त्रपायाः लज्जायाः भरः भारः तस्मात् । भृशानतम्—अत्यन्त झुके हुए । आसमन्तात् नतं (णम् + क्त) विनम्रीभूतम् आनतं भृशम् आनतं भृशानतम् । शिरः—शिर को । मस्तकम् । दुःखेन—क्लेश के साथ । उवाह—धारण किया । दधार । प्रापणार्थक वह् धातोः लिट्लकारे प्र० पु० एकवचने रूपम् ॥५७॥

हिन्दी अनुवाद :—उस रावण के द्वारा धनुष बनाने के लिए उखाड़े हुए दोनों सींगों वाला यमराज का भैंसा (सींग का) भार दूर कर दिये जाने पर भी लज्जा के महान् भार से अत्यन्त झुके हुए शिर को बड़ी कठि-नाई के साथ वहन करता था ॥५७॥

स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥५८॥

सर्वङ्कषा--स्पृशन्निति । अहः करोतीति, अहस्करः—सूर्यः । 'दिवा-विभानिशा—' इत्यादिना ट प्रत्ययः । कस्कादित्वात्सत्वम् । शुचौ समये—ग्रीष्मकाले, अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि । "शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्" इति विश्वः । "समयाः शपथा-चारकालसिद्धान्तसंविदः" इत्यमरः । असमग्रपातिभिः—सङ्कुचितवृत्तिभि-रित्यर्थः । कराणामंशूनां, हस्तानां चाग्रैः । "बलिहस्तांशवः कराः" इत्यमरः । सशङ्कः स्पृशन्—अविश्वासभयादिति भावः । अघर्मा—अनुष्णा

घर्मोदकविन्दवः—स्वेदोदविन्दवः । 'मन्थौदन--' इत्यादिना विकल्पादुदकशब्दस्योदादेशाभावः । तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार ग्रीष्मे तद्भयान्नासह्यं तपतीत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधकप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥५८॥

अन्वयः— अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ॥५८॥

विवृतिः—अहस्करः—सूर्यदेव । अहः दिनं करोति इति अहस्करः (अहन् पूर्वक कृ धातोः "दिवा विभा०" पा० सू० ३ । २ । २१ इत्यनेन 'ट' प्रत्यये "अहन" पा० सू० ८ । २ । ६८, इत्यनेन "अहन्" नकारस्य रुत्वे अनुवन्धलोपे "र्" इत्यस्य च "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" पा० सू० ८ । ३ । १५, इत्यनेन विसर्गे "अतः कृमिकंसकुम्भ०" पा० सू० ८।३।४६, इत्यनेन विसर्गस्य सकारादेशे च प्रकृतं रूपं निष्पद्यते । शुचौ--आषाढ़ महीने के । आषाढमासे । "मधु, माधव, शुचि, शुक्ल, नभस्, नभस्य, ईष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य" इति वैदिककालिकाः द्वादश मासाः । मधुः इति चैत्रस्य, माधवः इति वैशाखस्य, शुक्लः इति ज्येष्ठस्य, शुचिः इति आषाढस्य, नभः इति श्रावणस्य, नभस्यः इति भाद्रपदस्य, ईषः इति आश्विनमासस्य, ऊर्जः इति कार्त्तिकस्य, सहः इति मार्गशीर्षमासस्य, सहस्यः इति पौषस्य, तपः इति माघस्य, तपस्यः इति फाल्गुनस्य च वैदिकयुगीनः नाम । समये—समय में । समये काले मर्यादायां वा । स्थितोऽपि—स्थित हो कर भी । वर्तमानोऽपीत्यर्थः ।

असमग्रपातिभिः—पूर्णरूप से न पड़ने वाले । न समग्रमसमग्रम् असकलं यथा स्यात् तथा पतन्ति ये ते असमग्रपातिनः (असमग्र + पत् + णिनि ताच्छील्ये) तैः । कराग्रैः-- किरणों अथवा हाथों के अग्रभागों से । सशङ्कः—शङ्कायुक्त होकर । शङ्कया सहितः सशङ्कः "सति तीव्रे आतपे रावणो मां दण्डयिष्यति" इति शङ्काकुलः सन् । स्पृशन्—स्पर्श करते हुए । स्पर्शार्थक स्पृशधातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न "स्पृशत्" शब्दस्य प्र० विभक्तेः

ए० वचने रूपम् । अघर्मघर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः—शीतल स्वेदबिन्दु-रूपी मोतियों से । अघर्माः शीतलाः ये घर्मोदकविन्दवः स्वेदलवाः ते एव मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तैः । अस्य वधूः—इस रावण की स्त्रियों को । अलञ्चकार—सुशोभित करते थे । भूषयामास—अलम्पूर्वक कृधातोः लिट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥५८॥

विशेष :—अत्र श्लोके "शुचावपि समये स्थितः" इति वाक्यांशस्य "शुद्धे आचारे वर्तमानोऽपि" इत्यपरोऽर्थः । एवञ्च "असमग्रपातिभिः करैः" इत्यस्य "असमग्रं यथा स्यात् तथा पतनशीलैः करैः हस्तैः" इत्यर्थः । एतदर्थवैचित्र्यं "शुचि, समय, कर" इत्येतेषां शब्दानाम् अर्थद्वैविध्येन लभ्यते । "शुचि" इत्ययं शब्दः आषाढमासार्थः शुद्धार्थकश्च । "समय" इत्ययं शब्दः कालार्थकः मर्यादार्थकश्च । एवं "कर" इति शब्दः किरणार्थकः हस्तार्थकश्च । सूर्यपक्षे घटमानाः अर्थाः उक्ताः इतरेऽर्थाः एवं योज्याः, यथा कश्चिदन्यः राजसेवकः शुद्धे आचारे वर्तमानोऽपि असमग्रं यथा स्यात् तथा पातिभिः हस्ताग्रैः भीत-भीतः प्रभूणां महतां वधूः अलङ्कारैः अलङ्करोति एवं सूर्योऽपि (इत्यस्याग्रे सूर्यपक्षे उक्ताः अर्थाः योज्याः) इति भावार्थः निष्पद्यते ॥५८॥

हिन्दी अनुवाद :—जिस प्रकार शुचि समय (शुद्ध मर्यादा) में स्थित भी कोई प्रसाधक (शृङ्गारकर्ता) आशङ्कायुक्त होकर (यह कि मैं चपलेन्द्रिय न समझ लिया जाऊँ) हल्के-हल्के पड़ते हाथों के अग्रभाग से स्वामियों की पत्नियों को अलंकार की सामग्रियों से सुशोभित करता है इसी प्रकार भगवान् सूर्य भी शुचि समय (आषाढ़ मास के काल) में स्थित होकर (जब कि उनका तीव्र होना उचित ही था) आशंकायुक्त होकर (कि कहीं महा-प्रतापी रावण मुझसे रुष्ट न हो जाय) कोमलता के साथ पड़ती किरणों के अग्रभाग से छूते हुए शीतल-शीतल स्वेदविन्दु रूपी मोतियों से रावण की पत्नियों को सुशोभित करते थे ॥५८॥

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥५९॥

सर्वङ्कषा—कलासमग्रेणेति। कलाभिः—षोडशांशैः, शिल्पविद्याभिश्च—समग्रेण—सम्पूर्णेन। 'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती। गृहानमुञ्चता—सदा तद्गृहेष्वेव वसता। दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्चेति भावः। मनस्विनीः—मानिनीः, उत्काः—उत्सुकाः कर्तुम्—उत्कयितुम्। 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादुत्कशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्तुमुन्। पटीयसा—मानभेदचतुरेणेत्यर्थः। कुतः ? रतिं वितन्वता—चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च, रागं वर्धयता। इन्दुना विलासिनः—विलसनशीलस्य। 'वौ कषलस—' इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः। तस्य—रावणस्य। नर्मसाचिव्यं—क्रीडासम्बन्ध्यधिकारित्वे सचेष्टत्वम्। "लीला क्रीडा च नर्म च" इत्यमरः। नाकारीति न—किन्त्वकार्येवेत्यर्थः। अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थं नञ्द्वयम्। 'सम्भाव्यनिषेधानिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः। अत्रेन्दोः प्रकृतस्याऽप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः ॥५६॥

अन्वयः—कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा रतिं वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्य नर्मसाचिव्यं न अकारि इति न ॥५६॥

विवृतिः—कलासमग्रेण—कलाओं से परिपूर्ण। कलाभिः समग्रः कलासमग्रः तेन कलापूर्णेन (चन्द्रस्य षोडश कलाः भवन्ति सूर्यस्य च द्वादश। सूर्यः सदैव द्वादशभिः कलाभिः युक्तः भवति। चन्द्रस्य तु कलाः क्षीयन्ते वर्द्धन्ते च। कृष्णपक्षे क्षीयन्ते शुक्लपक्षे च वर्द्धन्ते। पूर्णमास्यां चन्द्रः सर्वाभिः कलाभिः पूर्णः भवति) षोडश कलेनेत्यर्थः। गृहान्—रावण के राजप्रासादों को। रावणभवनानि। अमुञ्चता—न छोड़ने वाले। मोचनार्थक मुच्लृधातोः शतृप्रत्यये 'मुञ्चत्' इति तस्य च तृ० वि० एकवचने "मुञ्चता" इति। न मुञ्चता अमुञ्चता अपरित्यजता इत्यर्थः। रावणसौधेषु सदैव पूर्ण एव चन्द्रः प्रकाशते स्म इत्यर्थः। मनस्विनीः—उन्नत मन वालियों (युवतियों) को। प्रशस्तं मनः यासां ताः। "मनस्विनीः" इत्यस्य मल्लिनाथवल्लभदेवाभ्यामुभाभ्यामपि "मानिनीः" इत्यर्थः कृतः। प्रसंगाच्चायमेवार्थः युक्तः। उत्कयितुम्—उत्कण्ठित करने में। रावणं प्रति उत्कण्ठिताः कर्तुम्।

पटीयसा—दक्ष। पटुः निपुणः दक्षः अतिशयेन पटुः इति पटीयान् (पटु+ ईयसुन्) तेन। रतिम्—प्रीति को। रमुधातोः भावे क्तिन् प्रत्ययः। वितन्वता—बढ़ाते हुए। वर्द्धयता इत्यर्थः। विपूर्वकात् विस्तारार्थकात् तनुधातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न "वितन्वत्" इत्यस्य तृ० ए० वचने प्रकृतं रूपम्। इन्दुना—चन्द्रमा के द्वारा। उनत्ति क्लेदयति इन्दुः (उन्दधातोः औणादिकः "उ" प्रत्ययः धातोः "उ" इत्यस्य "इ" आदेशः) चन्द्रः तेन। तृतीयाविभक्तेः एकवचने रूपम्। विलासिनः—विलासी। विलसितुं शीलम् अस्य विलासी (वि+लस+ताच्छील्ये णिनि) तस्य। तस्य—उस रावण का। नर्मसाचिव्यम्—विलास-सम्बन्धी विषय का मन्त्रित्व। सचनं सचिः (षच्+इन् औणादिकः) समवायः सम्मेलनम् इत्यर्थः तां वाति गच्छति इति सचिवः (सचि+वा+क) मन्त्रिः सहायो वा। नर्मणि क्रीडायां सचिवः नर्मसचिवः तस्य भावः कर्म वा नर्मसाचिव्यम् (नर्मसचिव+ष्यञ्)। न—नहीं। अकारि—किया। कृधातोः कर्मणि लुङ्। इति न—ऐसा नहीं। अकारि एवेत्यर्थः ॥५९॥

विशेषः—राज्ञां बहुविधाः मन्त्रिणः श्रूयन्ते तेषामेकतमः क्रीडामन्त्री च भवति। सः विविधासु राजसेवासु कुशलः गायन-वादन-प्रहसन—रञ्जन—प्रसादनप्रभृतिषु कलासु निपुणः शुद्धचरितः राजसदनरतः कुपितानां राजयोषितानाम् अनुनये प्रवीणश्च स्यात्। चन्द्रोऽपि सर्वकलापूर्णः रावणराजसदनरतः, रावणपत्नीनां प्रसादकः रतिवर्द्धकश्चासीदेव अतः तस्मिन् "नर्मसाचिव्यं न अकारि इति न" इति माघोक्तिः युक्तैव ॥५९॥

हिन्दी अनुवाद :—अपनी षोडश कलाओं से युक्त होकर राजभवन को न छोड़ते हुए, रूठी हुई रानियों को उत्कण्ठित करने में निपुण एवं अनुराग को बढ़ानेवाले चन्द्रमा ने उस विलासी रावण का केलिमन्त्रित्व नहीं किया ऐसी बात नहीं अर्थात् अवश्य किया ॥५९॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥६०॥

सर्वङ्कषा—विदग्धेति । मानिना—अहङ्कारिणा । अनेन—रावणेन । विदग्धलीलाः । चतुरविलासिन्य इत्यर्थः । तासामुचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च--कर्णभूषणानि। 'विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिका' इति साधीयान्पाठः। अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्तेः । 'कष्टं तदर्थावगमो दूरायत्तो भवेत्' इति लक्षणात् । विलासिनीनां या विभ्रमदन्तपत्रिका—विभ्रमार्थानि यानि दन्तमयपत्राणि । विभ्रमदन्तशब्दयोः षष्ठीसमासपर्यवसानात्तादर्थ्यलाभः । तासां —विधित्सया—विधातुमिच्छया । विपूर्वाद्धधातेः 'सनिमीमा--' इत्यादिना अच इस् । 'सः सि' इति तकारः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । ततः 'स्त्रियाम्' इत्यनुवृत्तौ 'अ प्रत्ययात्' इत्यकार प्रत्यये टाप् । नूनं–निश्चितं, जातु—कदाचिदपि । "कदाचिज्जातु" इत्यमरः । उद्धृतमुत्पाटितं विनायकस्य—गणेशस्येदं वैनायकम् । एकं विषाणं—दन्तः । 'विषाणं पशुशृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इति विश्वः। अद्यापि पुनर्न प्ररोहति—न प्रादुर्भवति । प्रपूर्वात् 'रुह प्रादुर्भावे' इत्यस्माल्लट् । किमन्यदकार्यमस्येति भावः । एतदन्यथा कथं गजाननस्यैकदन्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते—'नून'मिति ॥६०॥

अन्वयः—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिका विधित्सया जातु उद्धृतं वैनायकम् एकं विषाणम् अद्यापि पुनः न प्ररोहति नूनम् ॥६०॥

विवृतिः—मानिना—अभिमानी । मानः गर्वः अस्यास्ति इति मानी (मान + इनि) तेन मानिन्शब्दस्य तृ० वि० ए० वचने रूपम् । अनेन—इसके द्वारा । इदम्शब्दस्य पुंल्लिगे तृ० वि० ए० वचने रूपम् । विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिका विधित्सया--कामकला में दक्ष विलासिनियों के सौंदर्यवर्धन में आवश्यक कंघी बनाने की इच्छा से । विधातुम् इच्छा विधित्सा (वि + धा + सन् + इस् + टाप्) विदग्धानां दक्षविलासिनीनां याः लीलाः विलासाःतत्र उचिताः विदग्धलीलोचिताः ताश्च ताः दन्तपत्रिकाः कर्णाभरणानि कङ्कतिकाः वा तासां विधित्सा तया । जातु---कदाचित् "कदाचिज्जातु" इत्यमरः । उद्धृतम् = उखाड़ा गया । उत्खातम् । उत्पूर्वकधृधातोः कर्मणि

क्त प्रत्ययः । वैनायकम्=गणेश का । विनायकः विघ्नराजः पार्वतीपुत्रः गणेशः तस्य इदं वैनायकम् (विनायक+अण्) । एकम्—बाहर के दो में से एक । बाह्ययोः द्वयोः एकतरम् । विषाणम्—दाँत । "विषाणं स्यात् पशुश्रृंगेभदन्तयोः" इत्यमरवचनात् हस्तिदन्तेऽपि "विषाण" शब्दस्य प्रयोगः । अकारान्तः त्रिलिङ्गश्चायं शब्दः । इह नपुंसकः । प्र० वि० ए० वचने रूपम् । अद्यापि—आज भी । अद्यत्वेऽपि । पुनः—फिर । भूयः । न प्ररोहति—नहीं उगता है । न प्रादुर्भवति । आमूलाद् उत्पाटितत्वात् पुनरुत्पाटनभयाद्वेति भावः ॥६०॥

विशेष :—"दन्तपत्रिका" शब्दस्य वल्लभदेवेन "दन्तपत्रलता कर्णाभरणविशेषो वा" इत्यर्थः कृतः । मल्लिनाथेन च "कर्णभूषणानि" "दन्तमयपत्राणि" इति चार्थः कृतः, सुधाटीकाकृता "कङ्कतिका" इति च । "कङ्कतिका" इत्यस्य पं० श्री हरगोविन्द शास्त्रिविरचितायाम् अमरकोषस्य मणिप्रभाख्य-हिन्दीटीकायां "कङ्घी" इत्यर्थः कृतः अस्ति । अस्मिन् पद्ये कङ्कतिका कर्णभूषणयोः द्वयोः अपि अर्थयोः एकतरस्मिन्नेवार्थे माघेन "दन्तपत्रिका" शब्दस्य प्रयोगः कृतः स्यात् । तत्र कस्यापि टीकाकारस्य "कङ्घी" इत्येवार्थः प्रासंगिकः । एवंच "विदग्धलीलोचिता" इत्यस्य विदग्धानां विलासिनीनां या लीला केश-विन्यासः तत्र उचिता इत्येवार्थः कर्तव्यः ॥६०॥

हिन्दी अनुवाद :—कभी अपनी चतुर विलासिनियों के केश-विन्यास के लिये उपयुक्त कङ्घी बनाने की इच्छा से इस अभिमानी रावण द्वारा उखाड़ा गया गणेश जी का एक दाँत आज भी फिर नहीं जमता ॥६०॥

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥६१॥

सर्वङ्कषा—निशान्तेति । निशान्तं—गृहम् । 'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः । तत्र या नार्यः । शुद्धान्तस्त्रिय इत्यर्थः । तासां परिधानानि—अन्तरीयाणि । "अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके" इत्यमरः । तेषां धूननं—चालनम् । धूञो ण्यन्ताल्ल्युट् । 'धूञ्प्रीणोर्नुग्वक्तव्य' इति नुक् ।

तेन स्फुटागसा—व्यक्तापराधेनापि। अन्तःपुरद्रोहस्य महापराधत्वादिति भावः। **ऊरुषु**—तासां सक्थिषु। **लोलचक्षुषः**—सतृष्णदृष्टेः। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इति चामरः। अतएव तस्य **रावणस्य प्रियेण**—प्रमोदास्पदभूतेन। अङ्गीकृतम्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भावः। **प्रकम्पनेन**—वायुना। अनपराधेऽपराधाभावेऽपि। **बाधिताः**। 'राजपुरुषै'-रिति शेषः। **सुरा अनुचकम्पिरे**। स्वयमुपायेनान्तः प्रविश्यानपराधबाधा-निवेदनेन मोचयता वायुनानुकम्पिता इत्यर्थः। एकस्य वैदग्धाद् बहवो जीवन्तीति भावः ॥६१॥

अन्वयः—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे ॥६१॥

विवृतिः—**निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि**—राजभवन में रहने वाली स्त्रियों की साड़ियों को उड़ाने के कारण स्पष्ट अपराधी भी। निशान्ते राजभवने या नार्यः तासां यानि परिधानानि तेषां धूननेन कम्पनेन स्फुटं स्पष्टम् आगः अपराधः यस्य सः निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागाः तेन। "निशान्तम्" इति गृहनाम। ननु "निशायाः रात्रेः अन्तम्" इत्यर्थः कर्तव्यः। "परिधानानि" इत्यस्य "अधोंऽशुकानि" इत्येवार्थः प्रासंगिकः। **ऊरुषु लोलचक्षुषः**—स्त्रियों के घुटनों के ऊपर के भागों के विषय में चंचल नेत्र वाले। ऊरुषु जान्वोः उपरितनभागेषु लोले चपले चक्षुषी नेत्रे यस्य सः तस्य। **तस्य**—उस रावण के। **प्रियेण**—इष्टसाधक। प्रेमपात्रेण। **प्रकम्पनेन**—पवनदेवेन। प्रकम्पते इति प्रकम्पनः (प्र + कपि + युच् नुमागमश्च) पवनः तेन। **अनपराधबाधिताः**—विना अपराध के ही पीड़ित (बद्ध)। नास्ति अपराधः येषां ते अनपराधाः ते च ते बाधिताः निगृहीता अनपराधबाधिताः। **सुराः**—देवता लोग। देवाः। **अनुचकम्पिरे**—अनुगृहीत किये गये। अनुपूर्वक कपिधातोः कर्मणि लिट् लकारः। प्र० पु० ब० वचने रूपम् ॥६१॥

हिन्दी अनुवाद:—अन्तःपुरस्थ स्त्रियों के वस्त्रों के उड़ाने के कारण स्पष्ट अपराधी भी, किन्तु (स्त्रियों के) घुटने के ऊपर के भाग में चपल दृष्टि वाले

उस रावण के प्रिय पवन ने बिना अपराध के पीड़ित (बन्दी किये गये) देवताओं को अनुगृहीत (मुक्त) किया ॥६१॥

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥६२॥

सर्वङ्कषा—तिरस्कृत इति । किञ्च—तस्य—रावणस्य जनाभिभाविना—लोकतिरस्कारिणा। महीयसाम्—अतिमहतां। महसां—तेजसां, महिम्ना—महत्त्वेन । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिच् । मुहुस्तिरस्कृतः—अतएव—तनुः—कृशः, तनुं न पातयति जाठररूपेण शरीरं धारयतीति तनूनपात् —अग्निरिति स्वामी । 'नभ्राट्—' इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो नलोपाभावः । आधिजैः—दुःखोत्थैर्बाष्पैः—निःश्वासोष्मभिः । 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः', 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इति विश्वामरौ । द्वौ गुणावावृत्ती यस्य स द्विगुणः । ततश्च्विः । द्विगुणीकृतं—द्विरावृत्तम् । 'गुणस्त्वावृत्ति-शब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतान्तुषु' इति वैजयन्ती । धूमवितानं—धूममण्डलं—बभार । अग्निरपि तत्सन्निधौ निस्तेजस्को धूमायमान आस्त इत्यर्थः । धूमा-द्वैगुण्यासम्बन्धे सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥६२॥

अन्वयः—तस्य जनाभिभाविना महीयसां महसां महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः तनुः तनूनपात् आधिजैः बाष्पैः द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभार ॥६२॥

विवृतिः—तस्य—उस रावण के । जनाभिभाविना—लोक को तिरस्कृत करने वाले। जनम् अभिभवति तिरस्करोति इति जनाभिभावी (ताच्छील्ये णिनिः) तेन । जनाभिभाविन् शब्दस्य तृतीयाविभक्तेः ए० वचने रूपम् । अभिपूर्वकभूधातोः अनादरः तिरस्कारो वा अर्थः । एवं च "जना-भिभाविना" इत्यस्य लोकातिगेनेत्यर्थः । महीयसाम्—अतिमहान् । अतिशयेन महान्ति इति महीयांसि (महत्+ईयसुन्) तेषाम् अतिमहता-मित्यर्थः । महीयस् शब्दस्य नपुंसके ष० विभक्तेः ब० वचने रूपम् । महसाम्—तेजों के । "महस्तूत्सवतेजसोः" इत्यमरः । महिम्ना—माहात्म्य से । माहात्म्येन । महतः भावः इत्यर्थे महत् शब्दात् "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा"

पा० सू०५ ।१ ।१२२ इत्यनेन "इमनिच्" प्रत्यये निष्पन्ने महिमन् शब्दस्य तृ० विभक्तेः ए० वचने रूपम् । मुहु— वार-वार । भूयोभूयः । तिरस्कृतः— अनादृत होकर । कृततिरस्कारः । तिरस्-पूर्वकस्य कृधातोः अनादरोऽर्थः । अतएव तनुः—दुर्बल होकर । कृशः । "सूक्ष्मं दभ्रं कृशं तनु" इत्यमरः । "तनु" इति त्रिलिंगः शब्दः । प्रकृते "तनूनपात्" इत्यस्य विशेषणत्वात् पुंल्लिंगः । तनूनपात्—अग्निदेव । "जातवेदस्तनूनपात्" इत्यमरः । आधिजैः ——मानसिक पीड़ाओं से उत्पन्न । आधीयते दुःखम् अनेन इति आधिः (आङ् + धा + कि), मानसः क्लेशः । "पुंस्याधिः मानसी व्यथा" इत्यमरः । आधेः जाताः आधिजाः (आधि + जन् + ड) तैः वाष्पैः——आँसुओं से । अश्रुभिः इति वल्लभदेवः, निःश्वासोष्मभिः इति मल्लिनाथः, नेत्रजलैः इति सुधाटीकाकारः । अमरमतेन नेत्रजलोष्मणोः द्वयोः अपि अर्थयोः वाचकः वाष्पशब्दः । मल्लिनाथीयोऽर्थः साधीयान् इति चन्द्रप्रभाविवृतिकारः । द्विगुणीकृतम्— दूना । द्वौ गुणौ अस्य इति द्विगुणम् न द्विगुणम् अद्विगुणम् अद्विगुणं द्विगुणं सम्पद्यमानं कृतम् इति द्विगुणीकृतम् (द्विगुण + च्वि + कृ + क्त) द्विरावृतम् इत्यर्थः । धूमवितानम्—धूमपुञ्ज को । बभार——धारण करते थे । दधार । धारणपोषणयोः वर्तमानस्य भृधातोः लिट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ।।६२।।

हिन्दी अनुवाद :—उस रावण के संसार को अभिभूत करने वाले (चकाचौंध में डालने वाले) अत्यन्त महान् प्रताप की महिमा से वार-वार तिरस्कृत हुए (अतएव) दुवले-दुवले अग्निदेव मानसिक पीड़ा के कारण उत्पन्न हुए उच्छ्वास की उष्मा से दूने-दूने से प्रतीत होने वाले धूमपुञ्ज को धारण करते थे ।।६२।।

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ।।३६।।

सर्वङ्कषा——परस्येति । किञ्च—इद्धं दीप्तम् । उग्रमित्यर्थः ।'इन्धी दीप्तौ' कर्तरि क्तः । तं रावणमाराधयितुं—सेवितुं । परस्य—स्वेतरस्य । मर्माणि— हृदयादिजीवस्थानानि, कुलाचारव्रतानि च, विध्यति——भिनत्तीति मर्मावित् ।

विध्यतेः क्विप् । 'ग्रहिज्या—' इति सम्प्रसारणम् । 'नहिवृति—' इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । तं—मर्माविधं, निजं—स्वीयं द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो—दृष्टिविषत्वादिस्तम् । अन्यत्र द्विजिह्वता—पिशुनता । "द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ" इत्यमरः । सैव दोषस्तमुज्झतां—त्यजतां, फणिनां संबन्धिभिः—अजिह्मगामिभिः—करचरणादिमद्विग्रहधारित्वादृजुगतिभिः, अकपटचारिभिश्च । तथा कर्णाभ्यां सह वर्तन्त इति सकर्णकाः तैः । चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकर्णैरित्यर्थः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति कर्णको—नियन्ता । कर्णयतेर्ण्वुल् ततः पूर्ववत्समासे—सकर्णकैः । सनियामकैरित्यर्थः । फणिनां—सर्पाणां कुलैर्वर्गैः । भुजङ्गता—सर्पता, विटत्वं च । 'भुजङ्गौ विटसर्पयोः' इति हलायुधः । न भेजे—त्यक्तः भुजैर्गच्छन्तीति भुजङ्गाः । गमेः सुपि खच् च डिद्वा वाच्यः । तस्मिन्नियन्तरि खलैः खलत्वमपि, सर्पैः सर्पत्वमपि विहाय वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्वं श्रितमित्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषणसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥६३॥

अन्वयः—इद्धं तम् आराधयितुं परस्य मर्माविधं निजं द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः भुजङ्गता न भेजे ॥६३॥

विवृतिः—इद्धम्—दीप्त । दीप्त्यर्थक इन्धीधातोः कर्तरि क्त प्रत्यये निष्पन्न "इद्ध" शब्दस्य द्वि० वि० ए०वचने रूपम् । तम्—उस रावण को । आराधयितुम्—आराधित करने के लिए । सेवितुम् । आङ् पूर्वक राध् धातोः तुमुन् प्रत्यये रूपम् । परस्य—दूसरे के । मर्माविधम्—मर्म को पीड़ित करने वाले । मर्माणि विध्यति इति मर्माविद् (मर्म + व्यध् + क्विप्) इत्यवस्थायां "ग्रहिज्या०" पा० सू० ६ । १ । ३२ इत्यनेन सम्प्रसारणत्वात् "व्यध्" यकारस्य इकारादेशे "नहिवृति०" पा० सू० ६ । १ । ११६, इत्यनेन "मर्म" इत्यत्रान्तमकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य दीर्घत्वेन आकारादेशे च प्रकृतं रूपम् । तम् निजम्—अपने । आत्मीयम् । द्विजिह्वतादोषम्—द्विजिह्वता रूप दोष को । द्वे जिह्वे यस्य सः द्विजिह्वः सर्पः (सर्पस्य द्वे जिह्वे भवतः) तस्य भावः द्विजिह्वता (द्विजिह्व + तल् + टाप्) सैव दोषः तम् ।

उज्झताम्—छोड़ते हुए। त्यजताम्। उत्सर्गार्थक उज्झ धातोः कर्तरि शतृ प्रत्यये निष्पन्न उज्झत्शब्दस्य ष० वि० ब०वचने रूपम्। **फणिनाम्**—सर्पों के। फणाः सन्ति येषां ते फणिनः (फणा + इनि) सर्पाः तेषाम्। **अजिह्मगामिभिः**—अकुटिलगामी। कुटिलेऽलसे च जिह्मशब्दः प्रयुज्यते। इह कुटिलेऽर्थे प्रयोगः। न जिह्मम् अजिह्मं यथा स्यात् तथा गन्तुं शीलं येषां ते अजिह्मगामिनः (अजिह्म + गम् + णिनि) तैः। मल्लिनाथेन "अजिह्म-गामिभिः" इत्यस्य "करचरणादिमद्विग्रहधारित्वात् ऋजुगामिभिः" इत्यर्थः कृतः। एतेन तत्कृतेनार्थेन एतत् ध्वन्यते यत् रावणे शासति स्वेच्छा-शरीरधारणसमर्थाः सर्पाः मानुषमाकारं गृहीत्वा अकुटिलगामिनः जाताः। अतएव **सकर्णकैः**—कानों वाले। कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते ये ते सकर्णकाः तैः प्रकटीकृतकर्णैः। **कुलैः**—समूहों के द्वारा। **भुजङ्गता**—सर्प भाव। भुजेन कौटिल्येन गच्छति इति भुजङ्गः (भुज + गम् + खच् मुम् खचः डित्वेन "गम्" इत्यत्र स्थितस्य "अम्" इत्यस्य लोपः) सर्पः तस्य भावः भुजङ्गता (भुजङ्ग + तल् + टाप) सर्पता। **न भेजे**—नहीं सेवन किया। भज् धातोः कर्मणि लिट् लकारे रूपम् ॥६३॥

विशेष :—उक्तार्थापेक्षया अस्य श्लोकस्येतरोऽप्यर्थः अस्ति। तथाहि—**इद्धम्**—उग्र शासन वाले। उग्रशासनं। **तम्**—उस रावण को। **आराधयितुम्**—आराधित करने के लिये। **परस्य**—और के। स्वेतरस्य। **मर्माविधम्**—छिद्रान्वेषण रूप। कुलाचारव्रतादिविघटनरूपम्। **निजम्** अपने। आत्मीयम्। **द्विजिह्वतादोषम्**—दो तरह की बातें करना, अथवा चुगुली करना आदि को। पिशुन-भावम्। **उज्झताम्**—छोड़ते हुए। त्यजताम्। दण्डभयादिति भावः। **फणिनाम्**—सर्पों के। फणिभिः सह गुण-कर्मस्वभावसाम्यात् तेषामिव लोकापकारिणां विटानाम् (लोके 'आवारा' प्रभृतिभिः नामभिः प्रसिद्धानाम्)। **अजिह्मगामिभिः**—कपट-रहित आचरण वाले। अकपटाचारिभिः। **सकर्णकैः**—दण्डविधायकों से युक्त। कर्णयन्ति सर्वे वादिप्रतिवादिनोः वक्तव्यम् इति कर्णकाः (कर्ण + ण्वुल्) नियन्तारः दण्डविधातारः तैः सह वर्तन्ते ये ते सकर्णकाः तैः। **कुलैः**—

समूहों के द्वारा। भुजङ्गता—ग्रावारापन। न भेजे—नहीं अपनाया गया। न आचरिता ॥६३॥

हिन्दी अनुवाद :—उस प्रतापशाली रावण की आराधना करने के लिए दूसरे का मर्म भेदन करने वाले द्विजिह्वता रूपी दोष (डँसना आदि) को छोड़ते हुए सर्पों की कुटिलता अर्थात् टेढ़ापन का त्याग कर सरल रीति से चलने वाले (और आँखों से सुनने के स्वभाव को छोड़कर) कर्ण-युक्त हुए समूहों ने सर्पभाव का सेवन (ग्रहण) नहीं किया ॥६३॥

विशेष :—शब्दों की अनेकार्थकता के कारण इस श्लोक का एक दूसरा भी अर्थ है—उस उग्र शासन वाले रावण की आराधना करने के लिए दूसरे का मर्म भेदन करने वाले (कुल आचार और व्रत आदि के बारे में तरह-तरह की उल्टी-सीधी बातें फैलाना आदि) द्विजिह्वतारूपी दोष (दो तरह की बातें करना, चुगुलखोरी आदि) को छोड़ते हुए सर्पों के से भयानक आचरण वाले खलों की कुटिलता को त्यागकर सरल रीति से जीवन-यापन करने वाले जो नियामक (दण्ड-विधायक) युक्त रक्खे गये हैं ऐसे समूहों ने खलता का अवलम्बन नहीं किया ॥६३॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥६४॥

सर्वङ्कषा :—तदीयेति। तदीयमातङ्गानां घटाभिः—व्यूहैः विघट्टितै-रभिहतैः। "गजानां घटना घटा" इत्यमरः। अतएव कटस्थलेभ्यः प्रोषिता-न्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः। गृहीताः—पलाय्य संश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। अपुनर्निवर्तिभिर्भयात्तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः। चिराय याथार्थ्यम्—दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजा इत्यनुगतार्थ-नामकत्वम्। अलम्भि—लब्धम्। लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः ॥६४॥

अन्वय :—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि ॥६४॥

विवृतिः—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः—उसके सेना-गजों के द्वारा खदेड़े गये। तस्य इमे तदीयाः (तत्+छ—ईय) मातङ्गानां गजानां घटाः समूहाः तैः विघट्टिताः अभिहताः तैः। **कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः**—कनपटियों से दूर हो गयी है मदजल की धारा जिनके ऐसे। कटस्थलेभ्यः गण्डस्थलेभ्यः प्रोषितानि (प्र+वस्+क्त) प्रवासमिव गृहीतानि विनष्टानीति यावत् दानवारीणि मदजलानि (हस्तिनां मदोऽपि "दान" इत्युच्यते) येषां ते तैः। **गृहीतदिक्कैः**—धरी हैं दिशायें जिन्होंने ऐसे। गृहीताः आश्रिताः (त्राणार्थं) दिशः यैः ते गृहीतदिक्काः तैः। पलाय्य गृहीतदिग्भागैः। **अपुनर्निवर्तिभिः**—फिर से न लौटनेवाले। न पुनः निवर्तन्ते ये ते अपुनर्निवर्तिनः (अपुनः+नि+वृतु+णिनि) तैः। भयात् त्यक्तस्थानैः। **दिग्गजैः**—दिक्षु पृथिव्याः दार्ढ्यार्थं ब्रह्मणा नियुक्ताः विशालकायाः गजाः (पुराणमतेन) वर्तन्ते ते दिग्गजाः उच्यन्ते तैः। **याथार्थ्यम्**—यथार्थता। अर्थमनतिक्रम्य यथार्थः तस्य भावः याथार्थ्यम् (यथार्थ+ष्यञ्)। **अलम्भि**—प्राप्त की। प्रापि। लभ् धातोः कर्मणि लुङ् लकारः॥६४॥

हिन्दी अनुवाद :—रावण के हाथियों से पछाड़े गये, और जिनकी कनपटियों से मद की धारा लुप्त हो गयी है ऐसे फिर अपने स्थानों को न लौटने वाले दिग्गजों ने यथार्थ में दिग्गजता प्राप्त की (इसलिये कि अपने "दिग्गज" इस नाम के अनुसार सचमुच वे दिशाओं में पलायन करने वाले गज हो गये)॥६४॥

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ॥६५॥

सर्वङ्कषा—अभीक्ष्णमिति। ऊष्मणा—स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य—रावणस्य वपुरभीक्ष्णं—भृशमुष्णैरपि। शोकादिति भावः। सुरेन्द्रस्य—वन्द्यः—वन्दीकृताः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैर्निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ निर्वृतम्। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। तथा **सचन्दनाम्भःकणाः**—चन्दनोदकबिन्दुसहिताः ते च ते कोमला

मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणां—जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ। 'धुवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनं च तत्। जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती। अत्र सन्तप्तस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपी विषमालङ्कारः ॥६५॥

अन्वय :—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न निर्ववौ ॥६५॥

विवृतिः—सोष्मणः—कामज्वरयुक्त। उष्मणा तापेन कामज्वरेण युक्तः सोष्मा तस्य। तस्य—उस रावण का। वपुः—शरीर। अभीक्ष्णम्—सदा। उष्णैः अपि—गर्म-गर्म भी। तप्तैः अपि। सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः—देवराज की कारागारबद्ध स्त्रियों के उच्छ्वास के पवनों से। सुराणाम् इन्द्रः सुरेन्द्रः देवराजः तस्य वन्द्यः रावणेन बलात् आहृत्य कारागारे रुद्धाः स्त्रियः सुरेन्द्रवन्द्यः तासां श्वसितस्य निःश्वासस्य अनिलाः वायवः तैः। यथा—जिस प्रकार। येन प्रकारेण। निर्ववौ—आनन्दित होता था। निर्वृतिमाप। तथा—उस प्रकार। तेन प्रकारेण। सचन्दनाम्भःकणकोमलैः—चन्दन मिश्रित जलकणों के कारण कोमल-कोमल। अम्भसां जलानां कणाः अम्भःकणाः। चन्दनैः सहिताः सचन्दनाः अतएव कोमलाः तैः। जलार्द्रापवनैः—जल से भीगे ताड़ के पंखे के पवनों से। जलार्द्राणां जलोक्षिततालवृन्तानां पवनाः जलार्द्रापवनाः तैः। "जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्" इति वैजयन्ती। न निर्ववौ—नहीं आनन्दित हुआ। न निर्वृतिमाप ॥६५॥

हिन्दी अनुवाद :—कामज्वर से युक्त उस रावण का शरीर जिस प्रकार सदैव तप्त भी कारागृह में बन्दी बनाकर रखी गयी देवराज इन्द्र की पत्नियों के उच्छ्वासों से आनन्दित होता था उस प्रकार जिन पर जल छिड़का गया है ऐसे ताड़ के पंखों के पवनों से भी नहीं आनन्दित होता था ॥६५॥

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥६६॥

सर्वङ्कषा—तपेनेति। सदा—नित्यं नतु यथाकालम्। प्रसूनक्लृप्ति—कुसुमसम्पत्तिम् 'प्रसूनं कुसुमं समम्' इत्यमरः। दधतः—धारयन्तः। ऋतवो वर्षाः—प्रावृट्, तपेन—ग्रीष्मेण। 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इति, "स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्" इति चामरः। तथा हिमागमो हेमन्तः शरदा, तथा शिशिरो वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य—मिथुनीभावेन मिलित्वा, अस्य—रावणस्य पुरे, वसन्तीति वास्तव्याः—वस्तारः। 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इति तव्यत्प्रत्ययः। ते च ते कुटुम्बिनश्च तेषां भावं तत्ताम्। प्रतिवासित्वमित्यर्थः। ययुः—समेत्य ययुरिति समुदायसमुदायिनोरभेदविवक्षया समानकर्तृत्वम्। अत्र पुरे युगपत्सर्वर्तुसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥६६॥

अन्वयः—सदा प्रसूनक्लृप्ति दधतः ऋतवः वर्षाः तपेन, हिमागमः शरदा, शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥६६॥

विवृतिः—सदा—सदैव। प्रसूनक्लृप्तिम्—पुष्पसमृद्धि को। प्रसूनानां पुष्पाणां क्लृप्तिः (क्लृप् + क्तिन् भावे) सम्पत्तिः समृद्धिः प्रसूनक्लृप्तिः ताम्। दधतः—धारण करते हुए। धारणार्थक धा धातोः शतृ प्रत्यये निष्पन्न "दधत्" शब्दस्य प्र० वि० ब० वचने रूपम्। ऋतवः—ऋतुएँ। वसन्तादयः। वर्षाः—वर्षा। प्रावृट्। तपेन—ग्रीष्म के साथ। हिमागमः—हेमन्त। शरदा—शरद् ऋतु के साथ। शरदृतुना। शिशिरः—शिशिर ऋतु। वसन्तलक्ष्म्या—वसन्तश्री के साथ। समेत्य—साथ करके। संगतिं विधाय। मिथुनीभूय (दाम्पत्यधर्मं गृहीत्वेत्यर्थः)। अस्य पुरे—इस रावण के नगर में। वास्तव्यकुटुम्बिताम्—अधिवासी और गृहस्थपन को। वसन्तीति वास्तव्याः (वस् + णिच् + तव्यत्) कुटुम्बानि कलत्रापत्यादीनि सन्ति येषां ते कुटुम्बिनः वास्तव्याश्च कुटुम्बिनश्चेति वास्तव्यकुटुम्बिनः तेषां भावः वास्तव्यकुटुम्बिता ताम्। ययुः—प्राप्त हो गये। प्रापणार्थक या धातोः लिट् लकारे प्र० पु० ब० वचने रूपम् ॥६६॥

विशेष :—वल्लभदेवमते "ददतः" "प्रसूनक्लृप्तम्" इति च पाठः। मल्लिनाथमते "दधतः" "प्रसूनक्लृप्तिम्" इति च पाठभेदः। वल्लभदेवेन "प्रसूनक्लृप्तं ददतः" इत्यस्य "पुष्परूपं भाटकं (भाड़ा, किराया) प्रयच्छन्तः" मल्लिनाथेन "प्रसूनक्लृप्तिं दधतः" इत्यस्य "पुष्पसमृद्धिं धारयन्तः" इत्यर्थः कृतः। आभ्यां पाठवैचित्र्याभ्याम् अर्थवैचित्र्याभ्याञ्च श्लोकार्थे यद् अर्थ-वैचित्र्यं जायते तत् स्फुटमेव ॥६६॥

हिन्दी अनुवाद :—सदैव पुष्पसम्पत्ति को धारण करते हुए ऋतु, वर्षा ग्रीष्म से, हेमन्त शरद् से, तथा शिशिर वसन्तश्री से मिलकर (दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करके) इस रावण के नगर-निवासी और गृहस्थ हो गये (इस श्लोक में वर्षा को ग्रीष्म की, शरद् को हेमन्त की, तथा वसन्तश्री को शिशिर ऋतु की स्त्री के रूप में उपस्थित किया गया है) ॥६६॥

विशेष :—शिशुपाल-वध के प्राचीन टीकाकार काश्मीरी पण्डित वल्लभ-देव "प्रसूनक्लृप्तिं दधतः" ऐसा पाठ न मानकर "प्रसूनक्लृप्तं ददतः" ऐसा पाठ मानते हैं। उनके इस पाठ-भेद के कारण "पुष्पसम्पत्ति को धारण करते हुए" इस अर्थ की अपेक्षा "पुष्परूपी क्लृप्त (भाड़ा) अर्थात् गृह-शुल्क देते हुए" ऐसा अर्थभेद होगा। कल्पना की दृष्टि से यह अर्थ है भी सुन्दर ॥६६॥

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः ॥६७॥

सर्वङ्कषा—अमानवमिति। मनोरयं मानवः। 'तस्येदम्' इत्यणप्रत्यये पर्यवसानाज्जातावेकवचनम्। अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात्। अमानवम्—अमानुषम्। न जायत इति-अजम्। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। तथापि--मनोः कुले जातं--रामस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः। स चाभासत्वा-दलङ्कार इत्याह—प्रभाविनमिति—महानुभावे तस्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः। 'आभीक्ष्ण्ये णिनिः' इति णिनिः। इनिर्वा मत्वर्थीयः। 'भवन्त'-

मिति शेषः। आत्मनः—स्वस्य। अन्तम्—अन्तं करोतीत्यन्तम्। अन्त-शब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात्पचाद्यच्। भाविनं—भविष्यन्तम्। 'भविष्यति गम्यादयः'। जानन्नपि यो—रावणः, जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी—सीता, तां न मुमोच—नामुञ्चदित्यन्वयः। जानतोऽप्यमोचने कारणमाह—मानिनः सदा—प्राणात्ययेऽप्यभिमान एवैकं मुख्यं धनं येषां ते। प्राणात्ययेऽपि न मानं मुञ्चन्तीत्यर्थः। कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥६७॥

अन्वयः—अमानवम् अजं मनोः कुले जातं प्रभाविनम् (भवन्तम्) आत्मनः अन्तं भाविनं जानन् अपि यः जानकीं न मुमोच। हि मानिनः सदा अभिमानैकधनाः भवन्ति ॥६७॥

विवृतिः—अमानवम्—अमानव। मनोः अपत्यं पुमान् मानवः (मनु + अण्) न मानवः अमानवः तम्। अजम्—अजन्मा। जायते इति जः (जनि + ड) न जः अजः तम्। मनोः कुले जातम्—मनु के वंश में जन्म ग्रहण करने वाले। सूर्यवंशिनां पूर्वजः मनुर्नाम ऐतिहासिको राजा तस्य वंशे गृहीतजन्मानम्। प्रभाविनम्—प्रभावशाली। प्रभवनं प्रभावः (प्र + भू + घञ्) सोऽस्यास्ति इति प्रभावी (प्रभाव + इनि) तम्। प्रभाविन् शब्दस्य द्वितीया वि० ए०वचने रूपम्। आत्मनः—अपना। स्वस्य। आत्मन्शब्दस्य षष्ठ्येकवचनम्। अन्तम्—विनाशक। भाविनम्—होनेवाले को। भविष्यन्तम्। जानन् अपि—जानता हुआ भी। अवगच्छन् अपि। ज्ञाधातोः शतृप्रत्यये रूपम्। यः—जो (रावण) जानकीम्—सीता को। जनकः मिथिलाराष्ट्राधिपः सीरध्वजो नाम राजा तस्यापत्यं स्त्री जानकी (जनक + अण् + ङीप्) ताम्। न मुमोच—नहीं छोड़ा (नहीं लौटाया)। न तत्याज। मोचनार्थक मुच्लृधातोः लिट् लकारे प्र० पु० ए०वचने रूपम्। हि—निश्चय ही। "हि" इति निश्चयार्थकोऽव्यय-शब्दः। मानिनः—मानी जन। मानः अस्ति येषां ते मानिनः (मान + इनि)। सदा—सर्वदा। अभिमानैकधनाः—अभिमान मात्र है धन

जिनका ऐसे। अभिमान एवैकं धनं येषां ते तथाभूताः। भवन्ति—होते हैं ॥६७॥

हिन्दी अनुवाद :—आपको अमानव और मनु के वंश में जन्मग्रहण करने वाला अजन्मा (ईश्वर) प्रभावशाली तथा अपना भावी (निश्चित रूप से होने वाला) विनाशकर्ता जानकर भी जिसने जानकी को नहीं लौटाया। मानी सदा अभिमानमात्र धनवाले होते हैं ॥६७॥

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति॥६८॥

सर्वङ्कषा :—स्मरतीति। भातीति भवान्। भातेर्डवतुः। दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः।'अत इञ्' इतीञ्प्रत्ययः। भवन्। रामः सन्नित्यर्थः। भवतेर्लटः शत्रादेशः। वनान्तात्—दण्डकारण्यात्। वनितापहारिणं—सीतापहर्तारममुं—रावणम्। आबद्धः—प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः, अतएव चलन्ति जलानि यस्य स च, अतएव आविलश्च तम्—आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा—लङ्कासमीपे। 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः। 'अभितः परितः समया निकषा हाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। हनिष्यति—अवधीत्। 'अभिज्ञावचने लृट्' इति भूते लृट्। अदो हननं भवान्स्मरतीति काकुः। प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः। शेषे प्रथमा ॥६८॥

अन्वयः—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति अदः स्मरति ॥६८॥

विवृतिः—भवान्—आपने। भाति इति भवान् (भा + डवतु) 'भवत्' शब्दस्य प्रथमा विभक्तेः ए०वचने रूपम्। दाशरथिः—दशरथ-पुत्र अर्थात् श्रीराम। दशरथस्य अपत्यं पुमान् दाशरथिः (दशरथ + इञ्) रामः इत्यर्थः। भवन्—होते हुए। सन्। भूधातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न भवत्-शब्दस्य प्र० वि० ए०वचने रूपम्। वनान्तात्—वन के बीच से। वनस्य

अन्तः अभ्यन्तरः प्रदेशः वनान्तः तस्मात्। वनितापहारिणम्। स्त्री का अपहरण करने वाले। वन्यते इति वनिता (वनु+क्त+टाप्) वधू वैदेही सीता ताम् अपहरति इति वनितापहारी (वनिता+अप+हृ+णिनि) तम्। अमुम्—इस रावण को।

आबद्धचलज्जलाविलम्—बँध जाने के कारण क्षुब्ध जलराशि वाले अतएव मलिन। आबद्धः गिरिरचितसेतुना अतएव चलन्ति जलानि यस्य अतएव आविलश्च तम्। सेतुबद्धत्वात् चलज्जलराशितया कलुषम्। पयोधिम्—समुद्र को। पयांसि जलानि धीयन्तेऽस्मिन् इति पयोधिः समुद्रः तम्। विलङ्घ्य—पार करके। उल्लंघ्य। लङ्कां निकषा—लङ्का नगरी के समीप। "निकषा" इति समीपार्थकोऽव्ययशब्दः। तस्य योगे "अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इति वार्तिकनियमात् लङ्काशब्दात् द्वि० विभक्तिः। हनिष्यति—मारा। अवधीत्। अभिज्ञावचनत्वात् भूतेऽपि लृट् अभिज्ञा स्मृतिः (स्मरणम्)। अदः—उस बात को। स्मरति—स्मरण करते हैं ? स्मृधातोः लट्लकारे प्र० पु० ए०वचने रूपम् ॥६८॥

हिन्दी अनुवाद :—"आपने दशरथ-पुत्र होते हुए (अर्थात् श्रीराम का रूप धारण करके) दण्डक वन से अपनी पत्नी का अपहरण करने वाले इस रावण को सेतुबन्ध के कारण उछलते जल वाले अतएव मटमैले हुए समुद्र को लाँघ करके (पार करके) लङ्का के समीप मारा था" यह स्मरण है ? ॥६८॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥६९॥

सर्वङ्कषा—अथेति। अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं सम्प्रति छलनापरः—परप्रतारणापरः। एष—रावणः, शैलूषो—नटः तस्य भूमिकां—रूपान्तरमिव। 'शैलूषो नटभिल्लयोः'। 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे'ति विश्वः। अपरामुपपत्तिम्—जन्मान्तरमित्यर्थः। अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा—तिरोहितस्वरूपः सन्। सोऽपि—रावण

एव सन्नपि परैरितरैः। स न भवतीत्यसः—तस्मादन्य एव। 'नञ्' इति नञ्समासः। अतएव 'एतत्तदोः सुलोपो—'इत्यादिना न सुलोपः। प्रतीयते ज्ञायते इति—प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लट्। यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति। दौर्जन्यं तु तदेवेत्यवश्यं संहार्य इति भावः ॥६९॥

अन्वयः—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकामिव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा सोऽपि परैः असः प्रतीयते ॥६९॥

विवृतिः—अथ—रावण का शरीर छोड़ने के बाद। "अथ" इति आनन्तर्यार्थकोऽव्ययः। सम्प्रति—इस समय। अधुना अस्मिन् काले। छलनापरः—छलना अर्थात् अपने आपको छिपाना ही है प्रधान कार्य जिसका ऐसे। छलना वञ्चना एव परः प्रधानः यस्य सः। परप्रतारणकर्मप्रवृत्त इत्यर्थः। एषः—यह। रावणशरीरवर्ती राक्षसात्मा। शैलूषः—नट। शैलूषस्य ऋषेः अपत्यम् शैलूषः (शिलूष + अण) इति रामाश्रमदीक्षितः। "शैलूषा जायाजीवाः" इत्यमरः। "शैलूष" इतिशब्दः नटे बिल्वे भिल्ले च प्रयुज्यते। प्रकृते प्रथमे (नटे) अर्थेऽस्य प्रयोगः। भूमिकामिव—दूसरे पात्र के रूप को धारण करने की तरह। "भूमिका रचनायां स्यात् मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः। अपराम्—दूसरी। उपपत्तिम्—आकृति को अर्थात् जन्म को। अवाप्य—प्राप्त करके। लब्ध्वा गृहीत्वेत्यर्थः। अवपूर्वक आप्लृधातोः क्त्वा प्रत्यये तस्य च ल्यबादेशे रूपम्। शिशुपालसंज्ञया—"शिशुपाल" इस संज्ञा (नाम) के द्वारा। संज्ञायतेऽनया इति संज्ञा (सम् + ज्ञा + अङ्) चेतना (होश) नाम चेति। प्रकृते नामैव। शिशुपाल इति संज्ञा शिशुपालसंज्ञा तया। तिरोहितात्मा—छिपा है स्वरूप अर्थात् रावणभाव जिसका। तिरोहितः आच्छादितः आत्मा (अत् + मनिन्) स्वरूपः यस्य सः। सोऽपि—वही अर्थात् रावण ही। परैः—औरों के द्वारा। अन्यैः। असः—वह नहीं है ऐसा। न सः असः

तस्माद् भिन्न इत्यर्थः। प्रतीयते—जाना जाता है। बुद्धचते ज्ञायते इति यावत् ।।६९।।

हिन्दी अनुवाद :—राक्षस-शरीर को छोड़ने के पश्चात् कपट में प्रवृत्त होकर (दूसरों की आँखों से अपने वास्तविक रूप को छिपाने में तत्पर होकर जैसे कोई शैलूष (नाटक करने वाला) दूसरा रूप ग्रहण करता हो उसी प्रकार दूसरा जन्म ग्रहण करके "शिशुपाल" इस नाम से अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन करता हुआ वही (रावण) होकर भी वह दूसरों द्वारा और समझा जाता है ।।६९।।

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ।।७०।।

सर्वङ्कषा—स बाल इति। सः शिशुपालो बालः सन् वपुषा चतुर्भुजो—भुजचतुष्टयवानासीत्। विष्णुरिति ध्वनिः। मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्तत्तुल्यः, त्रिलोचनो लोचनत्रयवानसीत्। त्र्यम्बक इति ध्वनिः। बालविशेषणात्सम्प्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भावः। सम्प्रति तु युवा सत्करेण बलिना आक्रान्तमहीभृत्—अधिष्ठितराजकः सन्। अन्यत्र—अंशुव्याप्त शैलः। "बलिहस्तांशवः कराः" इत्यमरः। उच्चकैस्तेजसा रविरसशयम्। संशयो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। वपुषा मुखेन चेति 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया। हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात्। तथा च वामनः—'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः' इति। तेजसेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया। कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा रविरसंशयमिति तस्याः पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः। हरिहरादितुल्यमहिमत्वादतिदुर्धर्षः स इति भावः ।।७०।।

अन्वयः—सः बालः (सन्) वपुषा चतुर्भुजः आसीत्। मुखेन पूर्णेन्दुनिभः त्रिलोचनः आसीत्। सम्प्रति युवा सः कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असंशयं रविः अस्ति ।।७०।।

विवृतिः—सः—वह अर्थात् शिशुपाल। बालः—बालक (बाल्यावस्था

में)। शिशुः (शैशवे इत्यर्थः) वपुषा—शरीर से। वपुष् इति शरीरवाची षकारान्तः नपुंसकलिङ्गः संज्ञाशब्दः तस्य तृ० वि० ए० वचने रूपमिदम्। चतुर्भुजः—चार भुजाओं वाला। चत्वारः भुजाः यस्य सः। चतुर्हस्तः। मुखेन—मुख से। वदनेन। पूर्णेन्दुनिभः—पूर्ण चन्द्र के सदृश। पूर्णश्चासौ इन्दुः चन्द्रः पूर्णेन्दुः तेन निभः सदृशः पूर्णेन्दुनिभः। त्रिलोचनः—त्रिनेत्र। त्रीणि लोचनानि नेत्राणि यस्य सः आसीत्—था। अभवत्। सम्प्रति—इस समय। अधुना। युवा—युवक। यौवनस्थः। "युवा" इति युवन्शब्दस्य प्र० वि० ए० वचने रूपम्। कराक्रान्तमहीभृत्—करों अथवा किरणों से आक्रान्त किया है राजाओं अथवा पर्वतों को जिसने ऐसा। महीं पृथ्वीं बिभ्रति ये ते महीभृतः (मही + भृ + क्विप् + तुक्) पर्वताः राजानश्च। करैः किरणैः राजग्राह्यभागैः आक्रान्ताः (आङ् + क्रमु + क्त) महीभृतः येन सः। अत्रोपमेयः शिशुपालः उपमानः सूर्यः। "कराक्रान्तमहीभृत्" शब्दः "कर" "महीभृत्" अनयोः शब्दयोः अर्थद्वैविध्येन उपमेयोपमानयोः द्वयोः अपि बोधकः। उच्चकैः—अति महान्। तेजसा—तेज के कारण। प्रतापेन। असंशयम्—निश्चय ही। संशयो यथा न स्यात् तथा। रविः—सूर्य। अस्ति—है। विद्यते ॥७०॥

विशेषः—अत्र पद्ये "कराक्रान्तमहीभृत्"पदम् सूर्यशिशुपालयोः उभयोः अपि विशेषणम्। सूर्य-पक्षे "करैः किरणैः आक्रान्ताः महीभृतः पर्वताः येन सः" एवम्, शिशपाल-पक्षे च "करैः राजग्राह्यैः भागैः राजस्वैः आक्रान्ताः महीभृतः राजानः येन सः" एवञ्चार्थः कार्यः। करशब्दः राजस्वार्थकः किरणार्थकश्च। सूर्यपक्षे किरणार्थकः शिशुपाल-पक्षे च राजस्वार्थकः। एवं महीभृत् शब्दोऽपि पर्वतार्थकः राजार्थकश्च। सूर्यपक्षे पर्वतार्थकः शिशुपालपक्षे राजार्थकश्चेति ॥७०॥

हिन्दी अनुवाद :—बाल्यावस्था में वह शिशुपाल शरीर से चार भुजाओं, तीन नेत्रों तथा पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाला था। अब युवा अवस्था में

राजस्व (कर अथवा टैक्स) के भार से राजाओं को आक्रान्त करने वाला वह तेज में निश्चय ही (करों से अर्थात् किरणों से महीभृतों अर्थात् पर्वतों को आक्रान्त करने वाले) सूर्य के समान हो रहा है ॥७०॥

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥७१॥

सर्वङ्कषा—स्वयमिति । यदृच्छया—स्वेच्छया, स्वयं—सामर्थ्येन । नतु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसां—देवदानवयातुधानानाम्—अनुग्रहावग्रहयोः—प्रसादनिग्रहयोर्विधाता—कर्ता, असौ शिशुपालः—अभिराद्धाभिः—आराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिः, वितीर्णो—दत्तो वीर्यातिशयः—प्रभावातिशयो येषां तान्दशाननादीन्हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद्धसतीत्यर्थः ॥७१॥

अन्वयः—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ॥७१॥

विवृतिः—यदृच्छया—स्वेच्छानुसार । "स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः" इत्यमरः । स्वयम्—अपने से ही । सुरदैत्यरक्षसाम् । देवताओं, असुरों और राक्षसों का । सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति सुरदैत्यरक्षांसि तेषाम् । देवदानवराक्षसानाम् । अनुग्रहावग्रहयोः—कृपा करने तथा दण्ड देने में । अनुग्रहश्च अवग्रहश्च अनुग्रहावग्रहौ तयोः । विधाता—जैसा चाहे वैसा करनेवाला । विदधाति करोति इति विधाता (वि+धा+तृच्) । असौ—वह । अदस् शब्दस्य पुंसि प्र० वि० ए०वचने रूपम् । अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—आराधित देवताओं द्वारा वितरित किया गया है असाधारण पराक्रम जिनको ऐसे । अभिराद्धाः तपोभिः व्रतैः स्तवैश्च तोषिताः देवताः अभिराद्धदेवताः ताभिः वितीर्णः दत्तः वीर्यातिशयः पराक्रमातिशयः येभ्यः ते तान् । दशाननादीन्—रावण आदि को । दश आननानि मुखानि यस्य सः दशाननः सः आदिः प्रमुखः येषां ते दशाननादयः तान् । हसति—हँसता है । तेषाम् उपहासं करोति इत्यर्थः ॥७१॥

हिन्दी अनुवाद—स्वेच्छानुसार स्वयम् (किसी से नियोजित हुए बिना ही) देवताओं, दैत्यों तथा राक्षसों के ऊपर कृपा करने अथवा दण्ड देने में विधायक होकर वह, आराधित देवताओं के द्वारा जिन्हें असाधारण पराक्रम प्रदान किया गया है ऐसे, रावण आदि की हँसी-सी उड़ाता है ॥७१॥

बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥७२॥

सर्वङ्कषा—बलेति । जिगीषुणा । नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन—शिशुपालेन, बलावलेपाद् बलगर्वादधुनापि पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव जगत्प्रबाध्यते । तथाहि – सती—पतिव्रता योषिदिव सुनिश्चलातिस्थिरा प्रकृतिः—स्वभावो भवान्तरेषु—जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति ।

'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता ।
सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ।' इति मनुः ।

उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥७२॥

अन्वयः – जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुना अपि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते । सुनिश्चला प्रकृतिः सती योषिद् इव भवान्तरेषु अपि पुमांसम् अभ्येति ॥७२॥

विवृतिः—जिगीषुणा—विजयी होने की इच्छा करने वाले के द्वारा । जेतुमिच्छति जिगीषति जिगीषतीति जिगीषुः तेन । बलावलेपात्—बल के अभिमान के कारण । "दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः" इत्यमरः । बलस्य अवलेपः दर्पः बलावलेपः तस्मात् । अधुनाऽपि—इस समय भी । साम्प्रतमपि । पूर्ववत्—पहले की तरह । जगत्—संसार । 'विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । प्रबाध्यते – पीड़ित किया जाता है । प्रपीड्यते । प्रपूर्वकबाधधातोः कर्मणि लट्लकारः । तथाहि सुनिश्चला प्रकृतिः—स्थिरतर प्रकृति (स्वभाव) । सती योषित् इव—मन, वचन तथा शरीर से पतिव्रत का पालन करने वाली स्त्री की तरह । मनसा वचसा शरीरेण च या पतिम् अपहाय पुरुषान्तरं न

सेवते ताम् स्त्रियम् मनुः सतीम् आह। योषित् इति स्त्रीपर्यायवाची शब्दः। इवेति समानार्थकोऽव्ययः। **भवान्तरेष्वपि**—दूसरे जन्मों में भी। भवनं भवः उत्पत्तिः जन्म वा। अन्ये भवाः भवान्तराणि तेषु। जन्मान्तरेष्वपीत्यर्थः। **पुमांसम्**—पुरुष को। **अभ्येति**—प्राप्त होती है। आयाति अभिगच्छति। अभिपूर्वक इण्धातोः लट्लकारे प्र० पु० ए०वचने रूपम् ॥७२॥

हिन्दी अनुवाद :—जय की इच्छा करने वाले उस शिशुपाल के द्वारा बल के दर्पवश आज भी पहिले के समान संसार पीड़ित किया जा रहा है। स्थिरतर प्रकृति सती स्त्री की तरह दूसरे जन्मों में भी पुरुष को प्राप्त होती है ॥७२॥

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः ॥७३॥

सर्वङ्कषा—तदेनमिति। तत्तस्माद्विधेर्विधातुरप्युल्लङ्घितशासनम्। स्वयं विधातेत्याद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवशासनमित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। **एनं**—शिशुपालं। **कीनाशनिकेतनातिथिं**—कीनाशो यमस्तस्य निकेतनं गृहं तत्रातिथिं प्राघुणिकं, **विधेहि**—कुरु। यमगृहं प्रेषयेत्यर्थः। 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः। न चैतत्प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणं, भवादृशामवश्यकर्तव्यत्वादित्याह—**शुभेतराचारेण**—दुराचारेण **विपक्त्रिमाः**—परिपाकेन निवृत्ताः कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः। 'ड्वितः क्त्रिः' इति पचेः क्त्रिप्रत्ययः। 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति तद्धितो मम्प्रत्ययः। **असाधवो**—दुष्टाः, **सतां**—भवादृशां जगन्नियन्तॄणां **विपादनीयाः**—वध्या हि। न च नैर्घृण्यदोषः, स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥७३॥

अन्वयः—तत् विधेः उल्लङ्घितशासनम् एनं कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि। तथाहि शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः असाधवः सतां विपादनीयाः भवन्ति ॥७३॥

विवृतिः—तत्—इसलिये। तस्मात् कारणात्। विधेः—ब्रह्मा के। "विधाता विश्वसृड् विधिः" इत्यमरः। ब्रह्मणः। उल्लङ्घितशासनम्—उल्लंघित किया है शासन जिसने। ब्रह्मणोऽपि शासनमतिवर्तते किमुतान्यस्य महानयमुद्धतः शिशुपालः इति ध्वनिः। उल्लंघितम् अतिक्रान्तं शासनं येन सः तम्। एनम्—इस शिशुपाल को। कीनाशनिकेतनातिथिम्—यमदेव के घर का अतिथि। कीनाशो यमः तस्य निकेतनं गृहं तत्र अतिथिः कीनाशनिकेतनातिथिः तम्। विधेहि—करो (बनाओ)। कुरु। विपूर्वकधाधातोः करणमर्थः रूपञ्चैतत् विपूर्वकधाधातोः लोट्लकारे प्र० पु० ए०वचने बोध्यम्। तथाहि। शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः—अशुभ आचरण के कारण परिपक्व हो चुकी हैं विपत्तियाँ जिनकी ऐसे। शुभेभ्यः विहितेभ्यः इतरे शुभेतराः ते च ते आचाराः। शुभेतराचाराः तैः विपक्त्रिमाः परिपक्वावस्थां प्राप्ताः आपदः येषां ते असाधवः—असज्जन। साध्नुवन्ति परकार्याणि इति साधवः न साधवः असाधवः असज्जनाः अविनीताः इत्यर्थः। सताम्—सज्जनों के। विपादनीयाः—वध्य। मारणीयाः हन्तव्याः। विपूर्वकस्य णिजन्तस्य पद् धातोः अनीयर् प्रत्ययः ॥७३॥

हिन्दी अनुवाद :—यह आज भी संसार को पीड़ित कर रहा है। इसलिये भगवान् ब्रह्मा के शासन को भी उल्लंघित करने वाले इस असुर को आप यमदेव के घर का अतिथि बनायें। अशुभ आचरणों के कारण जिनकी आपत्तियाँ परिपक्व हो गयी हैं ऐसे असज्जन आप जैसे सज्जनों के द्वारा मारे जाने योग्य होते ही हैं ॥७३॥

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥७४॥

सर्वङ्कषा—हृदयमिति। अरिवधोदयात्—रिपुनाशलाभात्। उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्याद्धृतदार्ढ्यम्। स्वस्थमिति यावत्। पृथ्वादित्वाद् दृढशब्दादिमनिच्प्रत्ययः 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः। पुरः—शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः। 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः।

"खचि ह्रस्वः।' इत्युपधाह्रस्वः। 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनाददन्तत्वं मुमागमश्च। तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि। पूर्ववदेवेति भावः। घनपुलकयोः—सान्द्ररोमाञ्चयोः। पुलोम्नो जाता पुलोमजा—शची तस्याः कुचाग्रयोर्द्रुतपरिरम्भः—औत्सुक्याच्छीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं सहत्वं दधातु। प्राक्चित्तविक्षेपात्त्यक्तभोगेन शक्रेण सम्प्रति त्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः। अत्र दार्ढ्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगत्या निपीडनक्षमत्वं प्रतिहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। हृदयनिपीडनक्षमत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरित्यर्थालङ्कारो वृत्त्यनुप्रासश्च तैरन्योन्यं संसृज्यते। पुष्पिताग्रा वृत्तम्। 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥७४॥

अन्वयः—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयं पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं दधातु ॥७४॥

विवृतिः—**अरिवधोदयात्**—शत्रुवधरूपी अभ्युदय से। अरेः वधः अरिवधः स एव उदयः तस्मात्। **उदूढद्रढिमपुरन्दरस्य**—धारण की है दृढ़ता जिसने ऐसे इन्द्र का। उदूढः (उत् + वह् + क्त) धृतः द्रढिमा (दृढ + इमनिच्) दृढत्वं येन सः स चासौ पुरन्दरः तस्य। **हृदयम्**—हृदय। **घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्**—पर्याप्त है रोमांच जिनमें ऐसे जो शची के कुचों के अग्रभाग उनके द्रुत (शीघ्र) आलिंगन के कारण होने वाले निपीडन की क्षमता को। घनः विपुलः पुलकः रोमांचः ययोः तौ च तौ पुलोमजायाः शच्याः कुचौ तयोः ये अग्रे तयोः द्रुतं यः परिरम्भः आलिंगनं तत्र यत् निपीडनं तस्य क्षमत्वम्। **दधातु**—धारण करे। धारयतु। धारणार्थकधाधातोः लोट्लकारे प्र० पु० ए० वचने रूपम् ॥७४॥

हिन्दी अनुवाद—शत्रुवधरूप अभ्युदय के कारण जिसने दृढ़ता धारण की है ऐसे देवराज इन्द्र का हृदय भी, जिनमें पर्याप्त रोमाञ्च है, देवी शची के ऐसे कुचों के अग्रभाग के शीघ्र आलिंगन में जो निपीड़न उसके सहन की क्षमता धारण करे ॥७४॥

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति ।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥७५॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये कृष्णनारदसम्भाषणं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

सर्वङ्कषा —ओमिति । तस्मिन्सुरमुनौ—नारदे इति इत्थंभूतां वाचं व्याहृत्य—उक्त्वा नभ उत्पतिते समुद्गते पुरोऽग्रे इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति । अथ—मुनिवाक्यानन्तरमोमित्युक्तवतस्तथास्त्वित्यङ्गीकृतवतः । 'ओम्प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः । चेदीनां जनपदानामयं चैद्यः—शिशुपालः । 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' इति ञ्यङ्प्रत्ययः । तं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणो वदने व्योम्नीवानिशं सर्वदा । अव्यभिचारेणेत्यर्थः शत्रूणां विनाशस्य पिशुनः—सूचकः । 'चन्द्रमभ्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्' इति शास्त्रादिति भावः । केतुरुत्पातविशेषः ।"केतुर्द्युतौ पताकायां ग्रहोत्पातारिलक्ष्मसु" इत्यमरः । भ्रुकुटिच्छलेन भ्रूभङ्गव्याजेनास्पदं प्रतिष्ठां स्थितिं चकार । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातनात्सुडागमः । अनेन वाक्यार्थभूतस्य वीररसहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोधः स्वानुभावेन भ्रुकुट्या कारणभूतोऽनुमेय इत्युक्तम् । तथा तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीरस्य स्थायी प्रयत्नोपनेय उत्साहोऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसंधेयम् । इन्दोः श्रियं बिभ्रतीत्यत्र मुनेरिन्दुश्रियोऽयोगात्तत्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । वदने व्योम्नीवेत्युपमा । भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्देनासत्यत्वप्रतिपादानरूपोऽपह्नवः । तत्र शत्रुविनाशसूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्यव्योमभावस्थानसम्पादकत्वे निदर्शनोपमयोरपह्नवोपकारकत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान्भाष्यकारः— 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति ।शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम। सूर्याश्वैर्म-

सजस्तताः सगु रवः शार्दूलविक्रीडितम् इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः । यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥' इति ॥७५॥

अन्वयः—तस्मिन् सुरमुनौ इति वाचं व्याहृत्य नभः उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रियं विभ्रति सति अथ ओम् इति उक्तवतः चैद्यं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नि इव अनिशं शत्रूणां विनाशपिशुनः केतुः भृकुटिच्छलेन आस्पदं चकार ॥७५॥

विवृतिः—तस्मिन् सुरमुनौ—उस सुरमुनि (नारद) के। सुरश्चासौ मुनिः नारदः तस्मिन्। भावलक्षणा सप्तमी। **इति**—ऐसी। एवंविधाम्। **वाचम्**—वाणी को। "वाक्" इति शब्दः देव्यां सरस्वत्यां वचने च प्रयुज्यते। इह द्वितीयेऽर्थे प्रयोगः। द्वि० वि० ए०वचने रूपम्। **व्याहृत्य**—कह करके। उक्त्वा। वि आङ् पूर्वकस्य हृधातोः भाषणमर्थः। ल्यबन्तं रूपमिदम् वि आङ् पूर्वकस्य हृधातोः। **नभः**—आकाश में। आकाशम्। **उत्पतिते**—उड़ने पर। **पुरः**—सामने। पुरस् इति अग्रप्रदेशवाची अव्ययशब्दः। **इन्दोः**—चन्द्रमा की। चन्द्रस्य। **श्रियम्**—शोभा को। श्रीशब्दस्य द्वि० वि० ए०वचने रूपम्। **बिभ्रति**—धारण करने पर। धारणार्थक भृञ् धातोः शतृप्रत्यये निष्पन्न "विभ्रत्" शब्दस्य सप्तमी वि० ए०वचने रूपम्। **अथ**—इसके बाद। **"ओम्" इति**—जी हाँ, ऐसा। "ओम्" इति स्वीकारसूचकः शब्दः। **उक्तवतः**—कहने वाले। कथितवतः। ब्रूञ् धातोः क्तवतुप्रत्यये ब्रूञ् इत्यस्य "वच्" आदेशे तस्य च सम्प्रसारणे निष्पन्न "उक्तवत्" शब्दस्य ष० वि० ए० वचने रूपम्। **चैद्यं प्रति**—शिशुपाल के प्रति। चेदीनां जनपदानामयं चैद्यः (चेदि + ष्यङ्) शिशुपालः तम्। **क्रुद्धस्य**—क्षुब्ध। जातामर्षस्य। क्रुध् धातोः क्त प्रत्ययः। **शार्ङ्गिणः**—श्रीकृष्ण के। शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गः चापः अस्यास्ति इति शार्ङ्गी तस्य। शार्ङ्गिन्शब्दस्य ष० वि० ए०वचने रूपम्। **वदने**—मुखमण्डल पर। **व्योम्नि इव**—आकाश की तरह। "व्योम पुष्करमम्बरम्" इत्यमरः। आकाशे। व्योमन्शब्दस्य स० वि० ए०वचने रूपम्।

अनिशम्—सदा । सततम् । शत्रूणाम्—शत्रुओं के । विनाशपिशुनः—विनाश की सूचना देने वाले । विनाशस्य पिशुनः विनाशपिशनः । वधसूचकः । केतुः—उत्पातविशेष । भ्रुकुटिच्छलेन—भ्रुकुटी के बहाने । भ्रुवः या कुटिः (वङ्किमा) सैव छलं व्याजं यस्य सः तेन । आस्पदम्—स्थान । अवस्थितिम् । चकार—किया । कृञ् धातोः लिटि प्र० पु० ए० वचने रूपम् ।।७५।।

हिन्दी अनुवाद :—ऐसी बात कह कर उस देवर्षि के आकाश में उड़ जाने पर और सामने चन्द्रमा की सी कान्ति के धारण करने पर, पश्चात् "आप का कथन स्वीकृत है" ऐसा कहने वाले शिशुपाल के प्रति क्रुद्ध शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल पर आकाश-तल की तरह शत्रुओं के विनाश के सूचक केतु नामक उत्पात चिह्न ने भौंह के टेढ़ेपन के बहाने स्थान ग्रहण किया ।।७५।।

इति श्री भट्ट पं० रामप्रियदेवाचार्यशास्त्रिविरचितायां शिशुपालवधस्य चन्द्रप्रभाख्यव्याख्यायां प्रथमः सर्गः ।

मध्यमा परीक्षा

हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग

संवत् २०१३

संस्कृत—१

१—नीचे लिखे हुए पद्य की व्याख्या शुद्ध एवं सुन्दर हिन्दी में प्रस्तुत कीजिए—

विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥

२—नीचे लिखी हुई सूक्ति को शीर्षक बना कर एक लघु लेख प्रस्तुत कीजिए, जिसकी भाषा नितान्त निर्मल तथा मनोरम हो ।

सदाभिमानैकधना हि मानिनः ।

३—शिशुपाल-वध के रचयिता के सम्बन्ध में अपनी अविकल जानकारी अंकित कीजिए ।

४—(क) तत् शब्द की षष्ठी और भानु शब्द की सप्तमी विभक्ति के रूप लिखिए ।

(ख) गम् धातु के लङ् तथा दा धातु के लट्लकार के रूप लिखिए ।

(ग) 'गणेशः' तथा 'कपीशः' में सन्धिविच्छेद कीजिए ।

(घ) निम्नलिखित शब्दों में से किसी एक के विग्रह और समास बतलाइए :—

विसर्जितराजलोकः, नरेश्वरः, नीलाम्बरम्, रथाश्वकुञ्जराः ।

(ङ) नीचे लिखे शब्दों में से किन्हीं दो के प्रकृति और प्रत्यय का उल्लेख कीजिए—

अनैषीत्, भवतु, जघान, हरौ, पत्युः, कवये।

उत्तर

१—विलोकनेनैव ....तृप्यते।

प्रस्तुत पद्य महाकवि माघकृत शिशुपालवध नामक महाकाव्य के प्रथम सर्ग का है। असाधारण तेजस्वी नारद जी स्वर्ग से भगवान् कृष्ण से मिलने के लिये पृथ्वी पर उतरते हैं। उतरने पर कृष्ण उनका यथाविधि स्वागत करते हैं। उचित शिष्टाचार प्रदर्शित कर वे नारद जी से आगमन का प्रयोजन पूछते हैं। इसी प्रसंग में कृष्ण नारद जी से कहते हैं कि हे मुनि! यद्यपि पाप को दूर करने वाले आपके इस दर्शन से ही मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, तथापि मैं आपकी प्रयोजनवती वाणी को सुनना चाहता हूँ, क्योंकि अपने कल्याण से कौन तृप्त होता है? अपने कल्याण से कभी कोई संतुष्ट नहीं होता। मनुष्य को जितना कल्याण मिल जाता है उससे अधिक की वह कामना करने लगता है। जब तक मुझे आपके दर्शन का लाभ नहीं हुआ था तब तक मैं उसी को अपना कल्याण समझता था। किन्तु दर्शन प्राप्त कर लेने के पश्चात् आप जिस प्रयोजन से यहाँ आए हैं उसको पूर्ण करने में मैं अपना कल्याण देखता हूँ।

२—सदाभिमानैकधना हि मानिनः।

इस संसार में जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के विभिन्न दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। कुछ लोग धन संग्रह में जीवन की सार्थकता मानते हैं तो कुछ धन और मान दोनों के संग्रह में। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो केवल मान को ही सर्वस्व समझते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वाभिमानी कहलाते हैं। स्वाभिमानी अपने धवल यश को ही सर्वोपरि समझता है। वह उसको कलंकित नहीं देख सकता। अपनी कीर्ति को

निष्कलंक और अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वह अपने समस्त सांसारिक सुखों का बलिदान कर देता है, अपने अधिकारों का स्वेच्छा से परित्याग कर देता है, धन-धान्य को हँसते-हँसते लुटा देता है, भूखा रहता है, क्षुधा की ज्वाला में तिलतिल अपने को जलाता रहता है, आपत्तियों से जीवन पर्यन्त युद्ध करता रहता है किन्तु कभी भी निराश नहीं होता। सदैव अपनी शान की रक्षा में वह एकनिष्ठ हो संलग्न रहता है। अपने कर्तव्य-पथ से विचलित होना तो वह जानता ही नहीं। हो क्यों न, वही तो उसकी सर्वोत्तम निधि है, वही उसका जीवन है। उसको खोकर वह मणि-हीन सर्प बन जाता है।

सामान्य व्यक्ति और स्वाभिमानी व्यक्ति में बहुत बड़ा अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण संकुचित तथा सीमित होते हैं। वह अपने व्यक्तिगत सुखों को ही अपना सर्वस्व समझता है। सांसारिक सुख ही उसके काम्य और प्राप्य होते हैं। उचित और अनुचित किसी भी प्रकार से वह उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करता है। मान-अपमान की उसे कोई परवाह नहीं रहती। सम्मान खोकर भी वह अपने व्यक्तिगत सुखों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। किंतु स्वाभिमानी के विचार बड़े ही उदात्त और उदार हुआ करते हैं। वह अपने व्यक्तिगत सुखों को महत्त्व नहीं देता। वह ऐसे काम किया करता है जिनके करने से संसार में उसका नाम होता है; लोग उसका सम्मान करते हैं। इतिहास-लेखक जिनके जीवनचरित्र से अपने इतिहास के पन्नों की शोभा बढ़ाते हैं, कवि अपने काव्यों में जिनके धवल-यश का गान करते हैं, ऐसे ही व्यक्ति महान् कहलाते हैं। 'मानो हि महतां धनम्' उक्ति ऐसे ही लोगों के विषय में चरितार्थ होती है। सच्चे अर्थ में स्वाभिमानी अनासक्त कर्मयोगी हुआ करते हैं।

३—इस प्रश्न के उत्तर के लिए पुस्तक के प्रारम्भ में महाकवि माघ शीर्षक लेख पढ़िए।

४—(क)

शब्द	विभक्ति	लिङ्ग	एकवचन	द्वि० व०	बहु० व०
तत्	षष्ठी	पुंल्लिङ्ग	तस्य	तयोः	तेषाम्
तत्	षष्ठी	स्त्रीलिङ्ग	तस्याः	तयोः	तासाम्
भानु	सप्तमी	....	भानौ	भान्वोः	भानुषु

(ख) गम्‌धातु लङ् लकार—अगच्छत् अगच्छताम् अगच्छन्
अगच्छः अगच्छतम् अगच्छत
अगच्छम् अगच्छाव अगच्छाम ।

(ग) गण + ईशः = गणेशः । कपि + ईशः = कपीशः ।

(घ) विसर्जितराजलोकः—

राज्ञां लोकः = राजलोकः । विसर्जितः राजलोकः येन सः ।

नराणाम् + ईश्वरः = नरेश्वरः ।

नीलं च तत् अम्बरम् = नीलाम्बरम् ।

रथाश्च अश्वाश्च कुञ्जराश्च = रथाश्वकुञ्जराः ।

(ङ) अनैषीत्—नीधातोः लुङ्‌लकारे, प्रथमपुरुषैकवचने तिप् प्रत्यये रूपम् ।

भवतु-भू धातोः लोट् लकारे प्रथमपुरुषैकवचने तिप् प्रत्यये रूपम् ।

जघान—हन् धातोः लिटि प्रथमपुरुषैकवचने तिप् प्रत्यये रूपम् ।

हरौ—हरिशब्दस्य सप्तम्येकवचने ङि विभक्तौ ।

पत्युः—पतिशब्दस्य पंचम्येकवचने षष्ठ्येकवचने च रूपम् ।

कवये—कविशब्दस्य चतुर्थ्येकवचने रूपम् ।

संवत् २०१४

१—नीचे लिखे पद्य की व्याख्या शुद्ध एवं सुन्दर हिन्दी में लिखिए :—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

२—निम्नलिखित शीर्षक पर एक ऐसा निबन्ध लिखिए जिसका विस्तार तीन से पाँच पृष्ठों के भीतर हो।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

३—(क) महत् शब्द की द्वितीया तथा मुनि शब्द की सप्तमी विभक्ति के रूप लिखिए।

(ख) भू धातु के लोट् तथा श्रु धातु के लट् लकार के रूप लिखिए।

(ग) निम्नांकित शब्दों में सन्धिविच्छेद कीजिए—

गङ्गोदकम्, कवीन्द्रः।

(घ) निम्न शब्दों में किसी एक के विग्रह और समास लिखिए—

उपचीयमानपरिचया, श्वशरकुले, शुक्लाङ्गरागः।

(ङ) नीचे लिखे शब्दों में किन्हीं दो के धातु और प्रत्यय के नाम लिखिए—

वेत्सि, हरति, व्यनक्ति, ह्रूयते, अशेत, रुरोह।

(च) नीचे लिखे शब्दों में किन्हीं दो के प्रकृति और प्रत्यय का उल्लेख कीजिए—

सा, ये, राज्ञाम्, विद्वान्, पौरुष, करिणि।

उत्तर

१—हरत्यघं...................... योग्यताम्।

प्रस्तुत श्लोक महाकवि माघ के शिशुपालवध नामक महाकाव्य के प्रथम अंक से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत कथन श्रीकृष्ण जी का है। नारद जी के आने पर श्रीकृष्ण जी उनके अपूर्व दर्शन से अपने को कृतार्थ समझते हुए कहते हैं कि देवर्षि! आपका दर्शन शरीरधारियों के वर्तमान, भूत, भविष्यत् तीनों कालों की योग्यता को प्रकट करता है। दर्शनकाल में वह पापों को नष्ट करता है, भविष्य के कल्याण का कारण बनता है और पूर्व जन्म में किए गए शुभाचरणों का फल है। अर्थात् बिना सुकृत किये

पुण्यात्माओं का दर्शन सुलभ नहीं होता है। वर्तमान काल में वह पापों का नाश करता है, साथ ही भविष्य में शुभ होगा इसकी सूचना देता है। इस प्रकार जो व्यक्ति वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों में सदाचरणों वाला होता है उसे ही आप जैसे महापुरुषों का दर्शन होता है। प्रस्तुत श्लोक में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है।

२—इस प्रश्न के उत्तर के लिए भूमिका पढ़िए।

३—(क)

शब्द	विभक्ति	एकव०	द्विवचन	ब० वचन
महत्	द्वितीया	महान्तम्	महान्तौ	महतः
मुनि	सप्तमी	मुनौ	मुन्योः	मुनिषु

(ख) भूधातु के लोट् लकार में—

भवतु	भवताम्	भवन्तु
भव	भवतम्	भवत
भवानि	भवाव	भवाम

श्रु धातु के लट् लकार में—

शृणोति	शृणुतः	शृण्वन्ति
शृणोषि	शृणुथः	शृणुथ
शृणोमि	शृणुवः, शृण्वः,	शृणुमः, शृण्मः

(ग) गङ्गा + उद्कम् = गङ्गोदकम्। कवि + इन्द्रः = कवीन्द्रः।

(घ) उपचीयमानः परिचयः यस्याः सा = उपचीयमानपरिचया, बहुव्रीहि समास। श्वशुरस्य कुले = श्वशुरकुले, षष्ठी त० पु०। शुक्लांगरागः = शुक्लः अङ्गरागः यस्य सः शुक्लाङ्गरागः, बहुव्रीहि समास।

(ङ) विद् + सि, हृ + ति, वि + अन्जु + तिप्, दृ + त, शी + त, रुह् + ति।

(च) तत् (स्त्रीलिङ्ग) + सु, यत् + जस्, राजन् + आम्, विद्वस + सु, पुरुष + अण, करि + ङि।

संवत् २०१५

१—माघ के कवित्व पर तीन पृष्ठों का एक सुन्दर हिन्दी में निबन्ध लिखिए।

४—प्रश्न ४—माघ के कवित्व की विशेषताओं के लिए भूमिका पढ़िए।

संवत् २०१६

१—नीचे लिखे श्लोक की सरल एवं मुहावरेदार हिन्दी में व्याख्या कीजिए—

(अ) स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवाममुं वनान्ताद् वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लंकां निकषा हनिष्यति॥

२—नीचे लिखे श्लोक की संस्कृत में व्याख्या कीजिए—

लघूकरिष्यन्नतिभारभंगुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतम् गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया॥

३—निम्नलिखित सूक्ति का प्रसंगनिर्देशसहित हिन्दी में स्पष्टीकरण कीजिए—

स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत्।

४—निम्नलिखित विषय पर तीन पृष्ठों का सुन्दर निबन्ध लिखिए—

माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

५—नारद एवं कृष्ण के वार्तालाप का संक्षेप में संस्कृत में वर्णन कीजिए।

उत्तर

१—(अ) स्मरत्यदो......................हनिष्यति।

प्रस्तुत श्लोक शिशुपालवध के प्रथम सर्ग से उद्धृत है। यह उक्ति नारद की है। नारद जी कृष्ण को शिशुपाल का वध करने के लिए प्रेरित करते हैं। शिशुपाल के अत्याचारों का वर्णन करते हुए वह यह बतलाते हैं कि यह शिशुपाल अपने प्रत्येक जन्म में इसी प्रकार अत्याचारी था। इसके

पूर्व इसने रावण के रूप में जन्म लिया था। रावण के रूप में भी इसने लोगों को अत्यधिक उत्पीड़ित किया था। इसी प्रसंग में वह कृष्ण को उनके रामावतार तथा रावण के वध का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि जब आप दशरथ-पुत्र राम के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुए थे तब यह शिशुपाल रावण के रूप में जन्मा था। उस समय भी यह बड़ा अत्याचारी था। इसने दण्डकवन से आपकी पत्नी सीता का अपहरण किया था। आपने सेतु बाँधने से चंचल एवं मटमैले जल वाले समुद्र को पार कर लंका नगरी के निकट इसका वध किया था। यह तो आपको स्मरण होगा ही।

२—लघू·····················त्वया।

इसकी संस्कृत व्याख्या के लिए प्रथम सर्ग के ३६वें श्लोक की विवृति पढ़िए।

३—(क) स·····················स्फुटोऽभवत्।

प्रस्तुत श्लोक शिशुपालवध के प्रथम सर्ग का है। इसमें नारद का दर्शन पाकर कृष्ण अत्यधिक प्रसन्न हुए। उनके नेत्र प्रसन्नता से विकसित हो गए। इसी प्रकार का एक सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है। नारद जी सूर्य के समान असाधारण तेजस्वी थे। उनके तेजोमय मुखमण्डल को देख कर भगवान् श्रीकृष्ण की आँखें प्रफुल्लित हो उठीं। प्रफुल्लित होने के कारण उनकी आँखें सचमुच पुण्डरीक (कमल) के समान बड़ी बड़ी हो गईं। कवि का कथन है कि पुण्डरीक के समान आँखों के हो जाने के कारण उनका पुण्डरीकाक्ष नाम सार्थक हो गया।

४—प्रश्न ४—"माघे सन्ति त्रयो गुणाः" शीर्षक निबन्ध के लिये भूमिका पढ़िए।

५—सतां रक्षणाय असताञ्च विनाशाय द्वारकायां स्वस्य पितुः श्रीवसुदेवस्य समृद्धशालिनि राजसद्मनि निवसन् एकदा भगवान् श्रीकृष्णः

आकाशमार्गेण भुवमवतरन्तं ब्रह्मणः मानसं पुत्रं देवमुनिं नारदम् अपश्यत्। पुरः समागते तस्मिन् महात्मनि नारदे भगवान् स्वासनाद् उत्थाय तम् अर्घ्यादिभिः उपचारैः सत्कृत्य, समस्त-तीर्थोपहृतं तेन प्रोक्षितं तत् कमण्डलुजलं नतेन शिरसा स्वीकृत्य तं तथोचिते आसने उपवेश्य सम्मानवचोभिः अभिनन्द्य तस्य आगमनस्य कारणस्य जिज्ञासया तम् अकथयत् देवर्षे ! भवतः दर्शनेन अहं कृतार्थः संजातोऽस्मि। भवदीय-दर्शनम् अस्माकं कालत्रयस्य योग्यतां प्रकटयति। इदानीं भवतः दर्शनम् अस्माकं पापानि दूरीकरोति, अतीते मया अवश्यमेव पुण्यानि कृतानि आसन्। इदमेव कारणमासीत् येन ईदृशम् अपूर्वं भवतः दर्शनम् संजातम् भवतः दर्शनेन इति प्रतीयते यत् आगामिन्यपि काले अस्माकं कल्याणं भविष्यति। सहस्रांशुः सूर्यः यत् अज्ञानान्धकारं दूरीकर्तुं न शक्नोति तत् भवतः तेजः बलात् अनाशयत्। वेदानां भवतः ज्ञानम् असाधारणम् अस्ति। सदा तस्योपयोगेऽपि क्षीणत्वं नायाति। ईदृशेण भवतः दुर्लभेन दर्शनेन कृतकृत्योऽपि अहं भवतः आगमनस्य कारणं ज्ञातुमिच्छामि। यद्यपि भवान् विरक्तः अस्ति, भवतः आगमनस्य किमपि लौकिकं कारणम् असम्भवमस्ति तथापि भवद्दर्शनेनोत्पन्ना धृष्टता आगमनकारणं प्रष्टुं मामवशं करोति। एवं वदन्तं भगवन्तं श्रीकृष्णं देवर्षिः नारदः अभाषत, यत् पुरुषोत्तम ! अस्माकं विरक्तानां कृतेऽपि भवानेव दर्शनीयः अस्ति। त्वां विहाय अस्माकमपि प्राप्यम् अन्यन्नास्ति ये मुक्तिमभिलषन्ति तेऽपि भवतः एव शरणं गच्छन्ति। यतो हि भावत्कं शरणं प्राप्य ततः पुनः निवर्तनं न भवति। वाराहावतारं विधृत्य भवानेव अस्य रक्षणमकरोत्। भवतः महिमानं न कोऽपि ज्ञातुं प्रभवति। नात्र सन्देहः भवान् दुष्टान् संहर्तुमेव स्वर्गात् अवातरत्। हे विश्वम्भर! मदोन्मत्तानां कंसादीनां वधे भवानेव एकाकी समर्थोऽस्ति। यद्यपि भवान् एतेषां लोकोत्पीडकानां वधाय स्वयमेव प्रवृत्तोऽस्ति तथापि भवता सह वार्तां कर्तुं मम मनः किमपि वक्तुं मां प्रेरयति।

अतः हे उपेन्द्र ! जगतः कल्याणाय इन्द्रस्य सन्देशमहं कथयितुमिच्छामि एवं बहुशः आलपन् देवर्षिः शिशुपालस्य अत्याचारान् वर्णितवान्। तस्य विभिन्नानाम् अवताराणां स्मरणं च कारितवान्। अन्ततः तस्य अत्याचाराणां वर्णनं कृत्वा देवर्षिः तस्य वधाय श्रीकृष्णं संदिश्य स्वर्गं गतः।

——

संस्कृत साहित्य

विस्तृत व्याख्या, अनुवाद, आलोचना एवं टीका सहित